सन्त-वाणी

भाग ५

(केसेट सं० २३ से ३२)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

सन्त-वाणी

भाग-५

(केसेट सं० २३ से ३२)

मानव-सेवा-संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०

सन्त-वाणी

भाग-५

(कैसेट सं० २३ से ३२)

—: निवेदन :—

१. सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर है।

२. इस वाणी के आदर में सत्य का आदर है।

३. इस वाणी के आदर में जीवन का आदर है।

४. इस वाणी के आदर में संत का आदर है।

५. इस वाणी के आदर में संघ का आदर है।

—मानव-सेवा-संघ

अनुक्रमणिका

—❖—

॥ ॐ ॥

प्रार्थना

[प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है]

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायें

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

भूमिका

श्री महाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का संवरण हो चुकने के बाद, सन्त प्रेमी, संघ प्रेमी और सत्संग प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि सन्तबाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बनाये रखने का प्रयास होना चाहिये। श्री स्वामी जी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमीजनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकौर्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यतः प्रवचनों को टेप रिकौर्डिंग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिये विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर कभी-कभी स्वीकृति दे देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की Arranged Recording कभी नहीं होसकी। जब जैसा बन पड़ा Record कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन होजाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल वचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकौर्डेड प्रवचनों के Cassets तैयार कराये गये।

प्रथम बार बारह कैसेट्स का प्रथम सैट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृत-वाणी का यह सैट सत्संग प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीवन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आगई। मानव-जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभिव्यक्ति श्री महाराज जी की ही प्रेम पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमी जनों के हृद्तन्त्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य आज श्री महाराज जी के साकार

विग्रह के लुप्त होजाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालूम हो रही है।

जिस समय रिकॉर्डेड प्रवचनों के कैसेट्स बनाये जा रहे थे उस समय यह विचार भी आया कि कैसेट्स में जो वचन हैं वे इतने गूढ़ हैं कि उनका अध्ययन-मनन, पठन-पाठन बारम्बार करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग प्रेमी टेप रिकॉर्डिंग मशीन तथा कैसेट्स अपने पास नहीं रख पायेंगे उनके लिये भी ये अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पूरे सैट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी भाग-२ में प्रथम सैट के कैसेट्स सं० १ से ६ तक के प्रवचन, सन्तवाणी भाग-३ में कैसेट्स सं० ७ से १२ तक के प्रवचन, तथा संतवाणी भाग-४ में द्वितीय सैट के कैसेट्स सं० १३ से २२ तक के प्रवचन प्रकाशित होचुके हैं। प्रस्तुत संग्रह सन्तवाणी भाग-५ में तृतीय सैट के कैसेट्स सं० २३ से ३२ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं। सन्तवाणी माला का यह पांचवां पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। कैसेट्स सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन-मनन करना चाहें, उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित सन्तवाणी माला का पांचवां पुष्प सब प्रकार से आपके लिये हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ—

विनीता,
देवकी

वृन्दावन,
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी सं० २०४३ वि०
२७ अगस्त, १९८६ ई०

परिचय :

सन्त एवं भगवन्त के नाते, संघ एवं मानवता के नाते,

मेरे आत्मीय प्रिय श्रोतागण !

सन्त-वाणी का तृतीय टेप अंकित संकलन आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हुये मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। प्रथम एवं द्वितीय संकलन का आपने बड़े ही आदर-प्रेम एवं उत्साह के साथ स्वागत किया तथा बड़ी ही संजीदगी के साथ उनका उपयोग कर रहे हैं। मानव-सेवा-संघ की ओर से साधक-मात्र की सेवा में यह एक बहुत ही उपादेय रचनात्मक योजना सिद्ध हुई है।

मानव का व्यक्तित्व सृष्टि-कर्त्ता की विलक्षण रचना है। शरीरों को लेकर संसार में रहना और स्वयं अविनाशी से अभिन्न होना—ऐसा जटिल प्रोग्राम है मानव-जीवन का, कि जिसके मध्य अनेकानेक समस्यायें खड़ी हो जाती हैं। मनुष्य से देखे हुये संसार का सहारा छोड़ा नहीं जाता तथा अनदेखे परमात्मा में विकल्प-रहित विश्वास किया नहीं जाता। नित्य और अनित्य के आकर्षणों के द्वन्द्व में फँसा हुआ अपनी दुर्बलताओं का निर्वाह करते हुए सत्य को पाने के नाम पर व्यक्ति न जाने क्या-क्या प्रयास करता रहता है। बड़ी दयनीय दशा है। सीमित अहम्-भाव के द्वारा स्वीकृत मत, पन्थ, सम्प्रदाय, मजहब एवं परम्पराओं की सीमाओं में आबद्ध व्यक्ति अपने ही में विद्यमान नित्यत्व, सातत्व, अमरत्व एवं मधुरत्व को जान ही नहीं पाता, मान ही नहीं पाता, उससे

अभिन्न होने का सीधा-सच्चा मार्ग पकड़ कर चल ही नहीं पाता।

मानव-जीवन की सभी समस्याओं के समाधान का सच्चा-सीधा मार्ग प्रस्तुत करने के लिये अति-सत्यदर्शी सन्त ने समाधिष्ठ होकर स्वयं-प्रकाश्य का प्रकाश पाया। उसी आधार पर मानव-मात्र के कल्याण का सर्वमान्य मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। आप सभी उससे परिचित हैं।

यह सर्वहितकारी जीवन-प्रणाली अपने मौलिक रूप में सुरक्षित रहे और सत्संग प्रेमी उसी को आधार बनाकर सत्संग की गोष्ठी चलायें, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये टेप अंकित सन्त-वाणी के सैट्स बनाकर आपकी सेवा में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

मजहब एवं सम्प्रदाय की सीमाओं से निरपेक्ष, व्यक्तिगत रूढ़ियों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त इसी जीवन-प्रणाली का प्रतीक जो मानव-सेवा-संघ है, उसके प्रेमियों, साधकों एवं सदस्यों की सेवा में मैंने यह निवेदन किया है कि साधन-काल में साधक सत्संग की गोष्ठियों में विचार-विमर्श के समय अपनी-अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं आदि को शामिल करने लग जायँ, तो मानव-सेवा-संघ की व्यापकता सीमित हो जायेगी। इस कारण विचार-गोष्ठी में जीवन-विवेचन का आधार सन्त-वाणी को ही रखा जाय। श्री महाराज जी के वचन directly पहले हम लोग सुनें, फिर उसके प्रकाश में विवेचन करें तो उत्तम होगा। मानव-जीवन के मौलिक सत्य के प्रकाशन की शैली में, भाषा में, शब्द चयन में, सिद्धान्त और साधन प्रणाली के प्रतिपादन में, कहीं भी श्री महाराज जी ने एक देशीयता का स्पर्श नहीं होने दिया। साधक-मात्र के लिये सब कुछ किया। स्वयं अहम्-शून्य शरणापन्न होकर व्यक्तिगत बातों

की कहीं गन्ध नहीं आने दिया। उनकी उन्मुक्त ध्वनि अभी भी हमारे कानों में गूँज रही है...... "मैं ईश्वरवादी हूँ, परन्तु ईश्वरवाद का प्रचारक नहीं हूँ।"

उनके द्वारा प्रतिपादित क्रान्तिकारी सर्वहितकारी जीवन-प्रणाली को उसके शुद्ध रूप में सुरक्षित रखना हमारा परम धर्म है। हमारे इस निवेदन को सभी आत्मीयजनों ने, संघ के सभी शाखा-संचालकों, सदस्यों एवं सत्संग प्रेमियों ने सहर्ष स्वीकार किया है और बड़ी प्रसन्नता तथा उत्साहपूर्वक श्री महाराज जी की वाणी को ही आधार बनाकर अपने जीवन एवं समाज में मानवता जगाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। उनकी निष्ठा से उत्साहित होकर अब यह तृतीय संकलन सन्त-वाणी का तैयार किया गया है। आशा है कि इसे भी आप प्रेमपूर्वक अपनायेंगे और लाभान्वित होंगे।

इस प्रकार से चेष्टा यह है कि श्री महाराज जी ने जो जीवन-ज्योति जलायी है वह अखण्ड प्रज्ज्वलित रहे। अपना जीवन-रस उसमें ढाल कर उसके उजाले को हम प्रज्ज्वलित रखें। अज्ञानान्धकार में भटका हुआ मानव-समाज उस प्रकाश में मानवता के पथ पर आगे बढ़ता रहे।

इसी सद्भावना के साथ।

विनीता :

देवकी

———

२३

सत्संग का अर्थ है—"है" का संग, अर्थात् जो मौजूद है, विद्यमान है, प्राप्त है, उसका संग।

सत्संग के लिये आवश्यक कार्य को पूरा करना और अनावश्यक कार्य का त्याग करना अनिवार्य है।

श्रम-रहित होने पर जो आगे-पीछे का, भुक्त-अभुक्त का चिन्तन होता है, उससे साधक को असहयोग करना चाहिये। किसी अन्य चिन्तन से व्यर्थ-चिन्तन का नाश नहीं होता। अतः अचिन्त्य हो जाना चाहिये।

साधक को "करने" और "होनें" से असंग हो जाने पर जो 'है" उसमें अविचल आस्था हो जायेगी, श्रद्धा हो जायेगी।

वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, इनकी ममता व कामना बनाये रखना सबसे भारी भूल है। इन्हीं से सम्बन्ध जोड़नें का अर्थ है—"है" से विमुख होना।

———

२३

अ

प्रवचन :

सत्संग का जो वास्तविक रूप है उस पर विचार करने से मालूम होता है कि सत्संग का अर्थ है–"है" का संग, अर्थात् जो मौजूद है, विद्यमान है, प्राप्त है, उसका संग–सत का संग। तो "है" का संग करने के लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं है। और श्रम-रहित होने के लिये आवश्यक कार्य को पूरा करना, अनावश्यक कार्य का त्याग करना—यह आवश्यक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भाई-बहन कार्य के आरम्भ से पूर्व और कार्य के अन्त में बड़ी ही सुगमतापूर्वक "सत्संग" कर सकते हैं। आप कहेंगे कि जब हम श्रम-रहित होते हैं, तब आगे-पीछे का, भुक्त-अभुक्त का, किये हुए का, देखे हुये का चिन्तन होने लगता है। यह बात ठीक है, परन्तु इसका अर्थ यह है कि जो प्रभाव आपके जीवन में ठहरा हुआ था, वह उत्पन्न होता है, अथवा यों कहो कि प्रकट होता है नाश होने के लिये। साधक से भूल क्या होती है कि उस उत्पन्न हुए चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा दबाने का, मिटाने का प्रयास करता है। परन्तु परिणाम यह होता है कि वह किया हुआ चिन्तन भी ठहर जाता है और उससे पूर्व जो किया हुआ है, वह भी होता रहता है। तो दो प्रकार का चिन्तन होता रहता है। एक तो वह जिसे हम करते हैं और एक वह जो किये हुए का

प्रभाव है। यह समस्या हल नहीं होती। अनेक बार साधक प्रयत्न करता है कि सार्थक-चिन्तन से व्यर्थ-चिन्तन का नाश कर दिया जाय, परन्तु व्यर्थ-चिन्तन नाश नहीं होता।

इस सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि व्यर्थ-चिन्तन का नाश होता है अचिन्त्य होने से, अर्थात् किसी प्रकार का चिन्तन न करने से। अचिन्त्य होने पर हमारे न चाहते हुए भी जो चिन्तन हो रहा है, उसका प्रभाव स्वीकार न करें, अर्थात् उससे असहयोग रखें। असहयोग का अर्थ विरोध नहीं है। असहयोग का अर्थ है—समर्थन न करना, सहयोग न देना। जो हमारे बिना करे चिन्तन होने लगा—भूतकाल के किये के, देखे हुए के, भुक्त-अभुक्त के प्रभाव से—उसको देखें अथवा वह स्वयं दिखाई देगा। जो हो रहा है उसका ज्ञान होता है न! वह स्वयं दिखाई देगा। तो जब उसका ज्ञान आपको हो कि आगे-पीछे का चिन्तन हो रहा है, अथवा किसी वस्तु या व्यक्ति आदि का चिन्तन हो रहा है, अथवा उसका चिन्तन हो रहा हैं जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, तो उससे जब आप असहयोग करेंगे, तब उसका प्रभाव अपने पर स्वीकार नहीं करेंगे, अर्थात् न भयभीत होंगे और न उसमें सुख लेने का प्रयत्न करेंगे। आपके असहयोग करने से वह होने वाला चिन्तन निर्जीव हो जायेगा। और थोड़ी-थोड़ी देर के बाद स्वयं चिन्तन-रहित स्थिति आने लगेगी। परन्तु बड़ी ही सावधानीपूर्वक उस स्थिति में भी रमण नहीं करना चाहिये। आप विचार करके देखें, तो आपको यह स्पष्ट मालूम होगा कि जो हो रहा हैं उसका आश्रय और जो कर रहे हैं उसका आश्रय जब आप स्वीकार कर लेते हैं, तो जो "है" उसमें आस्था नहीं होती, उसमें प्रियता नहीं होती, उससे योग नहीं होता, उसका बोध नहीं होता। और जब "है" का बोध नहीं

होता, "है" में आस्था नहीं होती, "है" के साथ योग नहीं नहीं होता, तब देहाभिमान पुष्ट होता है, मजबूत होता है।

इसलिये किये हुए का प्रभाव और जो हो रहा है, उसका प्रभाव अपने में न हो। उसको स्वीकार न करें। किये हुए का प्रभाव मिटाने के लिये सबसे पहले, जो नहीं करना चाहिये, उसका त्याग करना होगा। उसके पश्चात् जो करना चाहिये, उसमें जो हमारी फलासक्ति हो जाती है, उसमें जो कर्त्तृत्व का अभिमान हो जाता हैं, उससे अपने को बचाना चाहिये। और फिर जो हो रहा है, वह किसी विधान से हो रहा है। जिसके हम कर्त्ता नहीं हैं, उसका हमें भोक्ता नहीं होना चाहिये। तो जो हो रहा है उसके भोक्ता नहीं रहे और जो नहीं करना चाहिये, उसका त्याग कर दिया। जो करना चाहिये, उसकी फलासक्ति और अभिमान का त्याग कर दिया। तो आप "करने" और "होने" से असंग हो जायेंगे। तब जो "है" उसमें आपकी अविचल आस्था हो जायेगी, उसमें आत्मीयता हो जायेगी, श्रद्धा हो जायेगी, विश्वास हो जायेगा। उसका बोध हो जायेगा, उसमें आत्मीयता हो जायेगी, जिससे अगाध प्रियता स्वतः जागृत् होगी। यही वास्तव में भजन है। "है" में यदि हमारी प्रियता नहीं है, तो भजन कैसा! और "है" का यदि बोध नहीं है, तो तत्व-साक्षात्कार कैसा! और "है" से यदि योग नहीं है, तो परम शान्ति कैसी!

आज यदि हम अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति पर विचार करें, तो जो "नहीं" है, उसके चिन्तन में, उसके आश्रय में, उसके तादात्म्य में आबद्ध हो गये हैं। आप कहेंगे, कैसे ? आप ही विचार कीजिये, जो चिन्तन आपके बिना करे होता है, जिससे

आप भयभीत होते हैं, वह क्या है ? वह दो रूपों में है, या तो वह है जो आप कर चुके हैं, या वह है जो आप करना चाहते हैं। तो जो कर चुके हैं, वह स्वरूप से मौजूद नहीं है, और जो करना चाहते हैं, वह वर्तमान कार्य नहीं है। अर्थात् जिसका अस्तित्व नहीं है, उसके चिन्तन ने आपको "है" के योग से, "है" के बोध से, "है" के प्रेम से विमुख कर दिया है "नहीं" के चिन्तन ने। अब "नहीं" का चिन्तन क्यों होता है ? इसका जो मूल कारण है वह तो है—पराधीनता में जीवन-बुद्धि। हम कुछ करेंगे तब हमको कुछ मिलेगा—यह जो आस्था है, इस प्रकार का जो विश्वास है, इस विश्वास ने ही मानव को देहाभिमान में आबद्ध कर दिया है, बाँध दिया है।

आप कहेंगे, क्या बिना करे भी कुछ मिलता है ? एक बात तो सोचिये, जो मौजूद है, क्या वह कभी अलग होता है ? उसकी प्रियता नहीं है ? कि वह मौजूद नहीं है ? इस पर विचार करने से आपको मालूम होगा कि आस्तिकों का प्रभु मौजूद नहीं—ऐसा कोई नहीं मानता। अगर आप लोगों में-से कोई मानता हो, तो बतायें। क्या कोई यह कहता है कि प्रभु नहीं हैं ? क्या कोई अध्यात्मवादी ऐसा कहता है कि तत्व नहीं है ? क्या कोई भौतिक-वादी ऐसा कहता है कि जगत् नहीं है ? आप देखेंगे, नहीं करके कोई भी दर्शन किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करता। सब कहेंगे—प्रभु हैं। अध्यात्मवादी कहेगा—आत्मा है। भौतिकवादी कहेगा—जगत् है। "है" का समर्थन सभी दार्शिकों ने किया है। उसका नाम कुछ रख दिया हो, उसका वर्णन कुछ किया हो। किन्तु "है" के सम्बन्ध में किसी ने यह नहीं कहा कि कोई नहीं है। यह भले ही कह दिया हो किसी ने कि "मैं आत्मा को ही मानता हूँ।" "मैं जगत को मानता हूं।" कोई कहेगा कि "मैं

परमात्मा को मानता हूं।" पर कोई ऐसा भी है जो यह कहे कि मैं किसी को नहीं मानता ? अच्छा, जो किसी को नहीं मानता, वह अपने को मानकर ही न ! कहता है कि मैं किसी को नहीं मानता।

आप विचार करके देखें कि अस्तितत्व से किसी का विरोध नहीं है। "है" से किसी का विरोध नहीं है। किन्तु वह "है" कैसा है ? कहाँ है ? उसका-हमारा क्या सम्बन्ध है ?— यह बात अलग रही। तो मेरा यह निवेदन है कि "है" कैसा हैं ?— उसका स्वयं अनुभव करो। तो कैसे अनुभव करेंगे ? कि जो "नहीं" है, उससे सम्बन्ध विच्छेद करके। आप विचार करके देखेंगे तो प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को इस बात का स्वतः अनुभव होगा कि जो व्यर्थ-चिन्तन के रूप में आपको प्रतीत होता हैं, वह वही प्रतीत होता है, जो उस समय नहीं है। आपने कोई बात की, उसका प्रभाव अंकित हो गया। जब आप शान्त हुए, तो वह चिन्तन के रूप में उत्पन्न हुआ। तो जिसका चिन्तन उत्पन्न हुआ है, क्या वह उस समय है ? क्या विचार है आपका ? (श्रोता: नहीं है)। तो "नहीं" का चिन्तन हो रहा है आपके बिना करे, आपके न चाहने पर भी। आप तो नहीं चाहते हैं।

आप तो चाहते हैं कि मन में निर्विकल्पता हो, बुद्धि में समता हो। आप यह तो नहीं चाहते हैं कि आगे-पीछे का चिन्तन हो। तो जो आपके न चाहने पर हो रहा है, उससे असहयोग करना आपके लिये क्या कठिन है ? बतलाइये। उससे आप असहयोग तो करते नहीं। करते क्या हैं ? एक नवीन चिन्तन करना आरम्भ करते हैं। किसी भी रूप में करें, किसी भी भाव में करें। वह जो नवीन चिन्तन आप करते हैं, वह वास्तव में होना चाहिए था। यह थी माँग। आपकी आवश्यकता यह थी

कि चिन्तन करना आप आरम्भ करते हैं, उसकी तो स्मृति जागृत् होती, और जिसका चिन्तन हो रहा है, वह न होता। तभी न ! आपको शान्ति मिलती। तभी न ! आपको स्वाधीनता मिलती। परन्तु ऐसा क्यों नहीं होता ? ऐसा इसलिये नहीं होता कि जो चिन्तन हो रहा है, जिसको आप नहीं चाहते हैं, उससे आप असहयोग नहीं करते हैं और जिसका चिन्तन करते हैं, उसमें आपकी वास्तव में आस्था नहीं है, आत्मीयता नहीं है। आप जानते हैं, अपने आप चिन्तन किसका होता है ? जिसमें आस्था है, और जिसमें आत्मीयता है। अर्थात् जिसकी आप सत्ता स्वीकार करें और जिसे आप अपना मानें, अथवा जिसकी आवश्यकता अनुभव करें।

आस्था, आत्मीयता, और आवश्यकता—विचार कीजिये इन तीनों पर। आस्था से निर्भयता आयेगी। आत्मीयता से प्रियता आयेगी। आवश्यकता से व्याकुलता आयेगी। किन्तु हमारी आस्था किसमें है ? जो कर चुके हैं, जो करना चाहते हैं। जो कर चुके हैं, वह अब है नहीं, किन्तु आस्था करते हैं। और जो करना चाहते हैं, वह भी इस समय है नहीं। दो ही चीजें न ! आपको दिखाई देती हैं। जो कर चुके हैं वह दिखाई देता है, और जिसमें आस्था होती है उसका भास होता है। किन्तु जिसका चिन्तन आपके बिना करे हो रहा है कि हम भविष्य में यह करेंगे, अथवा हम यह कर चुके हैं। तो जो कर चुके हैं और जो करना चाहते हैं, ये वर्तमान में नहीं हैं। तो जो वर्तमान में है उसमें तो हमारी आस्था नहीं, और जो नहीं है, उसकी हमने आस्था स्वीकार कर ली। जैसे कल्पना करो, कल आपने कोई बात की। उचित है अथवा अनुचित है उस पर पीछे विचार करेंगे। किन्तु कल जो किया, वह इस समय नहीं है, उसके

प्रभाव से आप क्यों प्रभावित होते हैं ? आप कहेंगे कि इसलिये होते हैं कि हमने ऐसी बात की जो नहीं करनी चाहिये थी। तो भाई, उसके न करने का निर्णय कर लो। यदि तुमने ऐसी बात की थी, जो करनी चाहिए, तो उसके फल की आशा छोड़ दो। क्योंकि किया हुआ सदैव नहीं रहता, और किये हुए का जो परिणाम है, वह भी सदैव नहीं रहता।

बड़े-से-बड़ा कर्मनिष्ठ यह सिद्ध नहीं कर सकता कि जो आप करते हैं, उसका परिणाम अविनाशी हो, नित्य हो, सदैव रहे। अथवा जो आप करते हैं, वह करना सदैव रहे। न कर्म सदैव रहता है, न उसका फल सदैव रहता है। तो फिर अगर हम कोई ऐसी बात कर चुके हैं, जो नहीं करनी चाहिये, तो उसके न करने के निर्णय के अतिरिक्त और कोई उपाय है क्या ? जी ? की हुई भूल को न दोहरायें—इसके अलावा भूल मिटाने का कोई उपाय है क्या ? जानी हुई बुराई न करें—इसके अतिरिक्त बुराई से बचने का कोई उपाय है क्या ? और की हुई भलाई का अभिमान छोड़ दें—इसके अतिरिक्त कर्म-फल से छुटकारा पाने का उपाय है क्या ? जी ? कोई उपाय नहीं है। सत्संग का अर्थ क्या है ? आप अपने सम्बन्ध में इतनी स्पष्टता से जान लें कि भाई, की हुई बुराई दोहरायेंगे नहीं, जानी हुई बुराई करेंगे नहीं, और की हुई भलाई का हमें फल नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए ? किये हुए का जो फल होता है, वह सदैव नहीं रहता।

और आपकी मांग क्या है ? क्या आपकी यह मांग है कि आपको वह चाहिये, जो सदैव न रहे ? प्रत्येक भाई-बहन की मांग है अविनाशी जीवन की। मांग आपकी उसकी है जो "है"।

"है" माने, जो पहले भी था, अब भी है, आगे भी रहेगा। तो जो सदैव रहेगा, उसकी मांग है जीवन में। और हम आबद्ध किसमें हो गये हैं? किये हुए के फल में, अथवा किये हुए की आसक्ति में। आप विचार कीजिये, किये हुए की आसक्ति ही तो हमें विश्राम नहीं लेने देती। किये हुए का फल ही न! हमको भोगना पड़ रहा है। तो जो किये हुए का फल है, वह तो नाश हो जायेगा, लेकिन किये बिना हम रह नहीं सकते—यह जो निर्बलता है, उसी ने हमें जो "है" उसमें आस्था नहीं होने दी। आप सोचिये, क्या वह भी परमात्मा होगा, जो वर्तमान में न हो? क्या वह भी आत्मा होगी, जो वर्तमान में न हो? यह तो कोई अध्यात्मवादो नहीं कह सकता, कोई ईश्वरवादी नहीं कह सकता। क्या वह भी जगत् होगा, जो मौजूद न हो? "है" में नहीं-बुद्धि और "नहीं" में है-बुद्धि!

२३

ब

आप विचार कीजिये, जो नहीं है, उसमें तो है-बुद्धि हो गई और जो "है" उसमें नहीं-बुद्धि ! क्योंकि अगर आपने जिसे "है" करके स्वीकार किया है, यदि उसमें नहीं-बुद्धि नहीं है, तो आत्मीयता "है" में क्यों नहीं ? और यदि आत्मीयता है, तो क्या प्रियता नहीं होगी ? आप विचार तो कीजिये। जिसके प्रति आत्मीयता होती है, उसके प्रति प्रियता होती है कि नहीं ? क्या विचार है आपका ? अच्छा, प्रियता से भिन्न भी कोई भजन है ? क्या किसी अनुष्ठान का नाम भजन है ? कदापि नहीं। तो मेरा यह निवेदन है कि सत्संग के द्वारा हम सबको "है" में अविचल आस्था करना है। और जब अविचल आस्था हो जायेगी, तो आत्मीयता भी हो जायेगी। यानी जिसके अस्तित्व को हम स्वीकार कर लेंगे, उसको अपना मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी। जिसको अपना मान लेंगे, उसकी स्मृति, चाहे आवश्यकता कहो, उदय होगी। देखिये, किसी आवश्यकता का उदय होना ही तो स्मृति हैं।

जैसे किसी को प्यास लगी हो, तो पानी की स्मृति होगी कि नहीं ? और जिसकी हम आवश्यकता अनुभव न करें, यही न ! मुक्ति है। और मुक्ति क्या है ? बताओ जरा। जिसकी

आप आवश्यकता अनुभव करते हैं, उसकी आपमें स्मृति है। तो स्मृति जो है यह प्रियता की जननी है, बोध की जननी है, योग की जननी है, प्राप्ति की जननी है। देखिये, कोई चीज आप रख कर भूल गये और स्मृति आ गई, तो जिस वक्त रखी हुई चीज की स्मृति आती है, उस समय वह प्राप्त हो जाती है कि नहीं ? अच्छा, जिसको आपने अपना करके स्वीकार किया, उसकी स्मृति, उसकी प्रियता में हेतु है कि नहीं ? अच्छा, किसी की प्रियता क्या रस-रूप नहीं है ? आप विचार कीजिये। आप विचार करें, कि यदि आपके जीवन में प्रियता है, तो क्या रस की अभिव्यक्ति नहीं होगी ? अच्छा रस की अभिव्यक्ति होने पर, क्या काम की उत्पत्ति होती है ? कभी नहीं होती।

आज हमारे जीवन में नीरसता क्यों है ? इसलिए कि किसी की प्रियता नहीं है। अब जब किसी की प्रियता नहीं है, तो सिद्ध होता है कि आपने "है" कहो, में आस्था नहीं की। जब "है" में आस्था ही नहीं की तो "है" कहो, चाहे सत्य कहो, का संग कैसे होगा ? जरा विचार तो करो, आस्था और संग दो चीज हैं क्या ? एक ही चीज है। जब एक ही चीज है, तो हमारी "है" में आस्था है अथवा नहीं है—इस पर विचार करना है। अगर आप विचार करें और आपको यह मालूम हो जाय कि "है" जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। तो जब "है" ही नहीं है, तो "नहीं" तो नहीं है ही। जो "है" को "है" नहीं मानते, तब "नहीं" को तो "नहीं" मानेंगे ही। तो क्या कोई भाई, कोई बहन यह मान सकते हैं कि साहब ! "है" नहीं है ? ऐसा कोई नहीं मानेगा। यह कहेंगे कि हम नहीं जानते "है" क्या है; पर है अवश्य। अरे भाई ! आपके न जानने पर भी जब "है" है, तब पहले आस्था करनी होगी कि पहले जानना होगा ?

देखिये, जिज्ञासा किसके सम्बन्ध में होती है ? जिसके सम्बन्ध में सन्देह होता है। और सन्देह किसके सम्बन्ध में होता है ? जिसके सम्बन्ध में आप 'नहीं' करके स्वीकार करते हैं। आप कहेंगे कि जब हमने "नहीं" करके स्वीकार कर लिया, तब सन्देह क्यों हुआ ?—'नहीं' में है-बुद्धि करने से। एक ओर 'नहीं है'—ऐसा भी मानते हैं, दूसरी ओर 'है'—ऐसा भी मानते हैं। जैसे जो घटना घट चुकी है, वह है नहीं, किन्तु फिर भी उसका अस्तित्व मानते हैं। यह जो "नहीं" का अस्तित्व मानते हैं,—है करके, जो पहले था। अरे भाई ! 'था' यह बात ठीक है, । पर वर्तमान में ? बोले—नहीं है। तो जो नहीं है, उसमें 'आस्था' करने से क्या लाभ होगा ? कोई लाभ होने वाला नहीं है। आप यह कह सकते हैं कि वे सुख की घड़ियाँ अब नहीं हैं। यही न ! कह सकते हैं ? सुख की घड़ियाँ अब नहीं हैं, उसका अब चिन्तन करते रहें, उसमें आप आस्था करते रहें। उससे व्यर्थ-चिन्तन के अतिरिक्त कोई प्राप्ति हो सकती है—ऐसा मेरा अनुभव नहीं है, विश्वास भी नहीं है। यदि आप में-से किसी का अनुभव हो, तो प्रश्न कर सकते हैं। उसका उत्तर हो सकता है। किन्तु मेरे जानते, तो जो सुख की घड़ियां बीत गईं, वे अब हैं नहीं।

जो संयोग-जनित सुख चला गया, वह अब है नहीं। कभी था, अब नहीं है। तो हमें उसके न होने में आस्था करना है कि उसके होने में ? अगर उसके होने में आस्था करेंगे, तो 'नहीं' का चिन्तन होता रहेगा। यदि उसके होने में आस्था नहीं करेंगे, तो "है" की खोज उत्पन्न होगी। "है" क्या है—यह विचार-पथ हुआ। "है" में आस्था होगी—यह आस्था-पथ हुआ। तो चाहे विचार-पथ से, और चाहे विश्वास-पथ से "है" के साथ ही

आत्मीयता स्वीकार करना है। विचार-पथ से खोज उत्पन्न होगी, और विश्वास-पथ से आत्मीयता उदय होगी। आत्मीयता प्रियता में बदलेगी। और खोज जो "नहीं है" उसके असहयोग में और असंगता में आपको परिणित कर देगी। अर्थात् खोज आपको असंगता प्रदान करेगी। असंगता का अर्थ क्या है ? कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उससे सम्बन्ध विच्छेद, उससे असहयोग ।

तो जिसका अस्तित्व नहीं है, उससे जब सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उससे योग हो जाता है। यानी किसी की असंगता किसी के बोध में हेतु है। किसी की विमुखता किसी की सन्मुखता में हेतु है। तो जब "है" का बोध होगा, तब "है" में प्रियता भी होगी। ऐसे ही जब "है" में प्रियता होगी, तो "है" का बोध भी होगा। तो चाहे तो बोध के द्वारा प्रियता प्राप्त करें, और चाहे प्रियता के द्वारा बोध प्राप्त करें। इन दोनों में प्रणाली-भेद हो सकता है, साधन-भेद हो सकता हैं। किन्तु फल में कोई भेद नहीं होता। तो जब हमें और आपको सत्संग करना है, तो इसका स्पष्ट अर्थ होता है कि जो मौजूद है, उसमें आस्था करें, अथवा उसकी खोज करें। परन्तु जब आप गम्भीरता से विचार करेंगे, तो स्पष्ट विदित हो जायेगा, आपको मालूम हो जायेगा कि मौजूद की खोज करना— मौजूद का चिन्तन करना नहीं है।

यानी खोज में और चिन्तन में बड़ा अन्तर होता है। खोज निषेधात्मक होती है। बोले, "यह नहीं है"........इस प्रकार खोज होगी। विधियात्मक खोज नहीं होती। तो निषेध किसका होगा ? जिसको प्रतीति है, जिसका चिन्तन है, उसका निषेध

होगा। उसके निषेध से विधि किसकी होगी ? जो "है"। उस "है" को आप किसी नाम से कहो, किसी भाव से कहो, किसी प्रकार से कहो। किन्तु यह आपको स्वीकार ही करना पड़ता है कि जो "है" वही जीवन है ! वही जीवन है !!, जीवन "है" में है, "नहीं" में नहीं है। तो आज हमारी आसक्ति, हमारी ममता किसमें हो गई है ? जो "नहीं" है। और जिसमें आसक्ति होती है, जिसमें ममता होती है, उसकी कामना होती है। तो ममता, कामना और आसक्ति ये दोष हैं। इन दोषों का नाश कैसे हो सकता है ? "है" की आस्था से, "है" की प्रियता से, "है" की खोज से, "है" के योग से। तो "है" की खोज कैसे की जाय ? "है" से योग कैसे किया जाय ?

आप पहले यह सोचिये कि, क्या आप खोज करना चाहते हैं ? कि आप योग करना चाहते हैं ? व्याख्यान में एक बड़ी व्याधि होती है। और वह व्याधि यह होती है कि व्याख्यान करते समय वक्ता अपना परिचय देता चला जाता है, पर श्रोता की क्या मांग है—इस पर दृष्टि नहीं जाती। और यदि उस ओर दृष्टि जाय, तो अनेक श्रोता हैं, अनेक मत हैं। बताइये, कैसे व्याख्या हो ? इसलिये मुझे दोनों-तीनों बातें कहनी पड़ती हैं। अब आप विचार करें कि, क्या आप उस "है" का योग चाहते हैं ? अगर चाहते हैं, तो श्रम-रहित होने से "है" का योग होता है। और श्रम-रहित कैसे होते हैं ? निष्काम होने से। निष्काम कैसे होते हैं ? निर्मम होने से। निर्मम हुए बिना कोई निष्काम नहीं हो सकता। तो निर्मम किससे होना है ? जिसके सम्बन्ध में आपका यह निर्णय हो कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अर्थात् उत्पन्न हुए शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अस्तित्व

यदि है भी तो स्वतन्त्र नहीं है। तो यदि आप यह स्वीकार कर लें कि जिस शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी ममता बनाये रखना "नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ना है।

"नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ने का अर्थ है कि "है" से विमुख होना है। गम्भीरता से विचार कीजिये, हम "है" से अलग नहीं हुए। विमुख हुए हैं। "है" की विस्मृति हुई है। "है" का अभाव नहीं हुआ है। क्योंकि जिसका अभाव हो सकता है, उसको "है" नहीं कह सकते। "है" से देश की दूरी नहीं हुई। "है" से काल की दूरी नहीं हुई कि अमुक काल में तो था और अब नहीं है। यह "नहीं" के सम्बन्ध में तो कह सकते हैं कि अमुक वस्तु पहले थी, अब नहीं है। जो वस्तु यहाँ है, वह वहाँ नहीं है। यानी देश की दूरी, काल की दूरी उत्पन्न हुई वस्तु के सम्बन्ध में आप कह सकते हैं। किन्तु जो अनुत्पन्न "है" उससे देश-काल की दूरी नहीं है। "है" उसे नहीं कहते जो उत्पन्न हुआ हो। तो "है" किसको कहते हैं ? कि जिससे उत्पत्ति हो। "है" उसको नहीं कहते जो पर-प्रकाश्य हो। "है" उसको कहते हैं, जो स्वयं-प्रकाश्य हो। "है" उसे नहीं कहते जिसका कोई आश्रय हो, "है" उसे कहते हैं, जो सर्व का आश्रय हो। तो सर्व का आश्रय है, जो सर्व का प्रकाशक है, और जो अनुत्पन्न हुआ है, वह अप्राप्त नहीं है। तो है क्या ? उससे विमुखता है।

उसकी विस्मृति है, उसमें अविश्वास है। अविश्वास विश्वास से नाश होता है। विस्मृति स्मृति से नाश होती है। और विमुखता सन्मुखता से नाश होती है, किसी अभ्यास से नाश नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जिस "है" को आप प्राप्त करना चाहते हैं, उस "है" में आपकी आस्था है या नहीं ? आप कहें

कि आस्था नहीं है। तो प्राप्त क्यों करना चाहते हैं? यदि आप प्राप्त करना चाहते हैं, तो आप कह ही नहीं सकते कि आपकी आस्था नहीं है। इस पर गम्भीरता से विचार कीजिये, जिसको आप प्राप्त करना चाहते हैं, उसके बारे में आप नहीं कह सकते कि वह नहीं है। जब नहीं है, तो प्राप्त क्या करना चाहते हैं? अच्छा, जब आस्था है, तब फिर "नहीं" की ममता कैसी?" "नहीं" की कामना कैसी? "नहीं" का तादात्म्य कैसा? अगर "नहीं" में ममता नहीं है, "नहीं" की कामना नहीं है, "नहीं" का तादात्म्य नहीं है, तो निर्ममता, निष्कामता और असंगता है। जब तादात्म्यता नहीं होगी तो असंगता होगी।

निर्ममता, निष्कामता, और असंगता से क्या होगा? "नहीं" की निवृत्ति होगी सरकार! "नहीं" की निवृत्ति में "है" की प्राप्ति। इसी को अध्यात्मवाद की दृष्टि से कहा—नित्य-प्राप्त को प्राप्ति। "नहीं" की निवृत्ति के बिना "है" की प्राप्ति हो सकती है क्या? कभी नहीं हो सकती। और "नहीं" की निवृत्ति श्रम-साध्य है क्या? क्या निर्ममता श्रम-साध्य है? क्या निष्कामता श्रम-साध्य है? क्या असंगता श्रम-साध्य है? कदापि नहीं। हां, एक बात अवश्य है कि निर्ममता से निष्कामता, निष्कामता से असंगता स्वतः साध्य है। निर्ममता का अर्थ क्या है? जिससे आपकी जातीय एकता नहीं है, जिससे आपका नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसकी ममता का त्याग। आप कहेंगे कि वह क्या है? जिसकी प्रतीति है, जिसका भास है। प्रतीति किसकी है? आपको कहना पड़ेगा—दृश्य की। दृश्य किसे कहेंगे? बोले, "यह" है। अच्छा, एक बात तो बताओ; दृश्य की प्रतीति किसके द्वारा है? दृश्य की प्रतीति का साधन क्या है? दृश्य का

तादात्म्य। इसे इन्द्रिय-दृष्टि से न ! आप देखते हैं, बुद्धि-दृष्टिसे न ! आप देखते हैं। इन्द्रियाँ भी तो दृश्य हैं। जी ? शरीर भी तो दृश्य है। यानी शरीर के सहयोग के बिना दृश्य की प्रतीति होती है क्या आपको ? जी ?

अच्छा, जिस शरीर से आपने तादात्म्य स्वीकार किया, उस शरीर पर आपका अधिकार कितना है ? उस शरीर से सम्बन्ध कब तक है ? आपको मानना पड़ेगा कि सदैव नहीं है। इतना तो मानना पड़ेगा न ! और सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। यानी वह घड़ी आ रही है, जबकि हम सभी यह अनुभव करेंगे कि अब शरीर नहीं है। अच्छा, तो जब वह घड़ी आ रही है, काल का प्रवाह चल रहा है। आज जो शरीर 'है' करके मालूम होता है, वह 'नहीं' में परिवर्तित हो जायेगा, बदल जायेगा। यानी जिसकी प्रतीति है, वह 'नहीं' में बदल जायेगी। ऐसी दशा में भी हम ममता का त्याग न करें, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आपकी ममता कोई और मिटा देगा ? क्या अपने आप कभी मिटेगी ? वह वस्तु तो अपने आप मिटेगी जिसमें ममता है। पर, ममता अपने आप नहीं मिटेगी। विचार कीजिये, ममता अपने आप कभी नहीं मिटेगी, किसी अन्य के द्वारा नहीं मिटेगी। क्यों ? आपने स्वीकार की है, यों। अपनी स्वीकृति का नाश अपने ही द्वारा होगा।

इस दृष्टि से हम और आप सत्संग के अभिलाषी हैं। तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसका उपयोग कीजिये, पर ममता मत कीजिये। आप-हम शरीर का उपयोग करें, और ममता न करें, तो क्या कर्तव्य-कर्म में कोई बाधा हो सकती है ? जी ?—नहीं हो सकती। अच्छा,

संसार में कर्तव्य-कर्म की अपेक्षा और क्या आपकी आवश्यकता हो सकती है ? संसार में कर्तव्य ही है न ! जो आपके में हाथ है। जी ? तो जो मिला हुआ है, जो सदैव नहीं रहेगा, जो किसी का दिया हुआ है, जो किसी विधान से उत्पन्न हुआ है, उसके उपयोग में आप सदैव स्वाधीन हैं। किन्तु, उसको सदैव बनाये रखने में आप सदैव पराधीन हैं। तो जिसमें आप पराधीन हैं, उसको न कर, तो कोई आपत्ति होगी ? और जिसमें आप स्वाधीन हैं, उसे अभी कर डालें, तो कोई कठिनाई होगी ?—नहीं होगी। तो ममता के त्याग में कोई कठिनाई नहीं है। यदि आपने अपने हो द्वारा मिली हुई वस्तुओं की, मिले हुए व्यक्तियों की, मिले हुए शरीर की ममता का त्याग कर दिया, अर्थात् यह निर्णय कर लिया कि 'यह मेरा नहीं है', परन्तु फिर भी उसकी सेवा करना है, उसका उपयोग करना है।

तो सेवा करने में निर्ममता बाधक नहीं है, अपितु सहायक है। क्यों ? अपना बिना मान कर जितनी उदारता से आप काम कर सकते हैं, उतनी उदारता से अपना मानकर कर सकते हैं क्या ? जी ? किसी उत्सव में कोई लड्डू बाँटने के लिये खड़ा कर दे, तो आप कभी सोचते हैं क्या, कि उसको नहीं देना चाहिए ? और यदि खरीद के लाये हों, अपने हों, तब ? तब तो ऐसी बात नहीं होगी न ! तो निर्ममता उदारता में हेतु है। और उदारता से ही आप जगत् के लिये उपयोगी होते हैं। और किसी प्रकार नहीं होते। तो जगत् के लिये उपयोगी होने के लिये तो निर्ममता अपेक्षित है। इस दृष्टि से अगर आप विचार करेंगे, तो भौतिक विकास में भी निर्ममता ही समर्थ है। अच्छा, अब आप सोचिये, निर्मम होने से आपको क्या मिला ? एक तो

कर्त्तव्य-परायणता आ गई और वह कर्त्तव्य-परायणता जगत् के लिए उपयोगी हुई, आपके लिये उपयोगी नहीं हुई। आपके लिये क्या चीज उपयोगी हुई? कि आपमें निर्विकारता आ गई निर्विकारता। व्यक्ति की ममता गई, आप मोह-रहित हो गये, मोह रूपी विकार गया। वस्तु की ममता गई, तो निर्लोभ हो गये। परिस्थिति की ममता गई, तो दीनता और अभिमान से रहित समता में प्रवेश हो गया। अवस्था की ममता गई, तो परिच्छिन्नता नाश हो गई। तो निर्विकारता प्राप्त हुई किसके द्वारा? निर्ममता के द्वारा।

मैं आपसे पूछता हूँ, कौन-सी योग्यता है ऐसी? जिससे आपको निर्विकारता मिल जाय। और कौन-सा तप है ऐसा? जिससे आपको निर्विकारता मिल जाय। और कौन-सा कर्म है ऐसा? जिससे आपको निर्विकारता मिल जाय। इस पर विचार करने की बात है। किसी योग्यता से, किसी अनुष्ठान से, किसी तप से आपको निर्विकारता प्राप्त नहीं होती। यदि निर्विकारता प्राप्त होती है तो निर्ममता से। अब आप विचार करें। जब आप किसी से शासित नहीं रहना चाहते, तो किसी पर शासन कैसे कर सकते हैं? इसलिये निर्ममता से ही निर्विकारता मिलेगी। और निर्मम होने के पश्चात् निष्काम होने की सामर्थ्य स्वतः आयेगी। तो जब निर्ममता से निष्कामता, और निष्कामता से असंगता स्वतः प्राप्त होगी, और वर्तमान में प्राप्त होगी, तो आप सोचिये, कि निर्ममता से निर्विकारता और निष्कामता से ऐश्वर्य और असंगता से स्वाधीनता......ये वर्तमान जीवन की वस्तु है कि भविष्य की वस्तु हैं?

यदि आप अपने में विकार अनुभव करते हैं, तो उसका अर्थ यह है कि आपमें खुद निर्विकारता की भूख नहीं है। आज

यदि अपने में आप अशान्ति अनुभव करते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि आप में शान्ति की भूख नहीं है। वर्तमान में यदि आप पराधीनता का अनुभव करते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि आपको स्वाधीनता की भूख नहीं है। तो जो आवश्यकता के ही रूप में आज नहीं है, क्या वह प्राप्ति के रूप में कभी होगी ? नहीं होगी। और जो आवश्यकता के रूप में आज है, वह प्राप्त न हो, क्या यह कभी सम्भव है ? कभी सम्भव नहीं है। इसलिये मानव-मात्र को निर्विकारता से, परम शान्ति से, स्वाधीनता से, अगाध प्रियता से कभी निराश नहीं होना चाहिए। यह कभी नहीं सोचना चाहिये, कि निर्विकारता मुझे नहीं मिल सकती, अगाध प्रियता मुझमें नहीं आ सकती।

दूसरी बात कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी आशा करनी चाहिये क्या ? जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी आशा न करें, तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसमें आस्था हो जायेगी कि नहीं ? तो इस दृष्टि से आप विचार करेंगे, तो आपको मालूम होगा कि 'सत्संग' से सर्वतोमुखी विकास होता है, और मानव-मात्र का होता है। यह नहीं, कि ईश्वरवादी का होगा और अनीश्वरवादी का नहीं होगा। यह नहीं, कि भौतिकवादी का होगा और अध्यात्मवादी का नहीं होगा। या अध्यात्मवादी का होगा, भौतिकवादी का नहीं होगा। चाहे आप भौतिकवादी हैं, चाहे अध्यात्मवादी हैं, चाहे ईश्वरवादी हैं, किसी प्रकार की मान्यता आपकी है। किन्तु सत्संग के द्वारा मानव-मात्र को निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता, अगाध प्रियता प्राप्त हो सकती है। यह निर्विवाद सत्य है। इस दृष्टि से सत्संग में ही मानव-जीवन के पुरुषार्थ की परावधि है।

२४

मानव-जीवन की पूर्णता तभी होती है, जब मानव अपनें लिये भी उपयोगी हो, जगत् के लिये भी उपयोगी हो और जो जगत् का आश्रय है, प्रकाशक है, उसके लिये भी उपयोगी हो।

जिसनें यह आवश्यकता अनुभव की कि मेरा जीवन जगत् के लिये. अपने लिये और प्रभु के लिये उपयोगी हो, उसे सफलता अवश्य मिलती है।

दरिद्रता का स्वरूप क्या है ?.........अप्राप्त की कामना बनी रहे, और आवश्यक वस्तु की प्राप्ति न हो। जब तक जीवन में वस्तु का महत्व है, तब तक निर्लोभता प्राप्त नहीं होगी।

अपने जानें हुए 'असत्' के त्याग से ही अकर्त्तव्य, असाधन और समस्त आसक्तियों से रहित होते हैं। अकर्त्तव्य से रहित होते ही जीवन में कर्त्तव्य-परायणता आती है। आसक्ति से रहित होते ही जीवन में प्रेम का प्रादुर्भव होता है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

———

३४

अ

प्रवचन :

उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन !

यह निर्विवाद सत्य है कि प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। और वह प्रेम मानव-मात्र को, अर्थात् प्रत्येक भाई और बहन को मिल सकता है। कारण कि, प्रेम की प्राप्ति में कोई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति हेतु नहीं है। अपितु, जिसे हम अपना करके मानते हैं, उसी में प्रियता होती है। अब प्रश्न यह आता है कि किसी को अपना मानने में किन-किन बातों की आवश्यकता होती है ? उसके लिए सभी को निर्मम और निष्काम होना पड़ता है। प्रेम के साम्राज्य में कोई भी प्रेमी अपने पास अपनी करके कोई वस्तु नहीं रख सकता। और न कामना-पूर्ति के प्रलोभन में ही आबद्ध रह सकता है। इतना ही नहीं, जिसे कुछ नहीं चाहिए—इसका अर्थ क्या है ? भोग और मोक्ष दोनों ही नहीं चाहिये।

आप विचार करके देखें, समस्त भोग कर्म-सापेक्ष है। और मोक्ष विवेक-सिद्ध है। कर्म-सामग्री प्रत्येक भाई-बहन को स्वभाव से ही प्राप्त है। तात्पर्य क्या निकला ? कि जो मिला है,

उसके सदुपयोग से ही भोग का सम्पादन होता है। भोग की कामना से भोग की प्राप्ति नहीं होती। और जो आप जानते हैं, उसके आदर से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तो भोग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन मनुष्य-मात्र को बिना ही माँगे प्राप्त है। परन्तु भोग का जो परिणाम है, वह अभाव रूप है। इस कारण भोग-प्राप्ति जीवन का उद्देश्य नहीं है। और विवेकपूर्वक जो मोक्ष की प्राप्ति है, वह अपने लिये उपयोगी है। इस दृष्टि से भोग की अपेक्षा मोक्ष बड़े ही महत्व की वस्तु है। परन्तु जिसने भोग-सामग्री प्रदान की, अथवा विवेक प्रदान किया। और इस अनुपम उदारता से प्रदान किया, कि किसी को यह मालूम नहीं होता, कि जो कर्म-सामग्री मुझे प्राप्त है, वह मेरी अपनी नहीं है। जो विवेक मुझे प्राप्त है, वह मेरा अपना नहीं है।

अर्थात् दाता ने इतनी उदारतापूर्वक यह दिया है कि जो यह मालूम ही नहीं होता कि किसी ने हमको यह दिया हैं। परन्तु क्या हम उसको अपना मानने के लिये राजी नहीं हैं? यदि हम "उसे" अपना मान सकें, तो निस्संदेह जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो सकता है। आप विचार करके देखें, प्रेम कोई अभ्यास नहीं है, कोई अनुष्ठान नहीं है, कोई श्रम-साध्य प्रयोग नहीं है। अपितु, मानव-मात्र में स्वभाव से मौजूद है। परन्तु उसका बोध कब होता है? जब मानव आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सुने हुए प्रभु को अपना मान लेता है। अर्थात्, यह स्वीकार करता है, कि "वे" मेरे अपने हैं, और यह जो कुछ मिला है, वह "उनका" है। उनकी आत्मीयता में जो रस है, वह न तो भोग में है, न शान्ति में है और न स्वाधीनता में है। आप कहेंगे, कैसे? यह सभी भाई-बहनों का अनुभव है कि भोग आरम्भ काल में सुखद

और परिणाम में दुःखद है। शान्ति में भी रस है। स्वाधीनता में भी रस है।

परन्तु शान्ति और स्वाधीनता के रस में अहम्-भाव का अत्यन्त अभाव नहीं होता। क्यों ? आप अनुभव करते हैं……… "मैं शान्त हूँ", "मैं स्वाधीन हूँ"। एक बात। दूसरी बात यह है कि शान्ति और स्वाधीनता अपने लिये उपयोगी है। पर, आत्मीयता से जागृत् जो प्रियता है, वह प्रभु के लिये उपयोगी है। उसी प्रियता का जो क्रियात्मक-स्वरूप है वह सेवा है। सेवा जगत् के लिये और प्रियता प्रभु के लिये उपयोगी है। शान्ति और स्वाधीनता अपने लिये उपयोगी हैं। मानव-जीवन की पूर्णता तभी होती हैं, जब मानव अपने लिये भी उपयोगी हो, जगत् के लिये भी उपयोगी हो, और जो जगत् का आश्रय है, प्रकाशक है, उसके लिये भी उपयोगी हो। अर्थात् जो जीवन सभी के लिये उपयोगी है,वही मानव-जीवन है। इसी उद्देश्य को जब हम अपने सामने रखते हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम-सब इस परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये तत्पर हो जायँ।

आप जानते हैं, किसी की प्राप्ति का उपाय क्या है ? उसकी आवश्यकता का होना। तो जिसने यह आवश्यकता अनुभव की कि मेरा जीवन जगत् के लिये, अपने लिये और प्रभु के लिये उपयोगी हो, तो उसे सफलता अवश्य मिलती है। बहुत से भाई कहते हैं कि यह तो बड़ी कठिन बात है। मेरा निवेदन यह है कि जिसकी प्राप्ति आवश्यकता-मात्र से होती है, भला वह भी कठिन है ? आप विचार करके देखिये, जब आप कोई कामना पूरी करना चाहें, तो कामना-मात्र से कामना पूरी नहीं होती। उसके लिए किसी न किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का आश्रय

लेना पड़ता है। उस पर भी सभी कामनायें पूरीं नहीं होतीं। तो वह तो आज हमें सुलभ मालूम होता है ! और जिस जीवन की प्राप्ति केवल उस जीवन की आवश्यकता-मात्र में निहित है, वह आज हमें दुर्लभ मालूम होता है !, कठिन मालूम होता है ! यह हमारी भूल है। यह वास्तविकता नहीं है। पर, यह भूल कैसे नाश होती है ? जब मानव शान्तिपूर्वक, अपने ही द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार करे। अपने सम्बन्ध में विचार करने के समान और कोई पुरुषार्थ नहीं है, और कोई प्रयत्न नहीं है। किन्तु, आज हम अपने सम्बन्ध में विचार ही नहीं करना चाहते। उसी का यह परिणाम हुआ है कि हम अपने को मानव कहते तो हैं। पर, अगर कोई यह प्रश्न करे, कि आप मानव क्यों हैं ? तो इसका उत्तर दूसरे को तो कौन कहे, अपने को भी देना कठिन हो जाता है।

क्यों कठिन हो जाता है ? इसलिये कठिन हो जाता है कि हमने इस वास्तविकता पर कभी विचार हो नहीं किया कि हम मानव क्यों हैं। आप विचार करके देखेंगे, कि जहाँ तक सुख और दुःख के भोग का प्रश्न है, वहाँ तो प्राणी-मात्र भोगता ही है। हम अगर सुख-दुःख हो भोगते रहें, तो बताइये अन्य प्राणियों और मानव-जीवन में अन्तर ही क्या होगा ? मानव-जीवन का आरम्भ ही तब समझना चाहिए, जब सुख और दुःख में जीवन-बुद्धि न रहे। हमें यह न मालूम हो कि कामना-पूर्ति ही जीवन है, या कामना अपूर्ति ही जीवन है। कामना-पूर्ति और अपूर्ति तो दो अवस्थायें हैं। ये अपने आप आती हैं और अपने आप जाती हैं। सभी भाई-बहनों का यह अनुभव है कि आपके चाहते हुए भी सुख चला जाता है, और न चाहने पर भी दुःख आ जाता है। जब हम-सबका यह अपना अनुभव हैं, तब आप ही

बताइये, कि सुख के प्रलोभन का और दुःख के भय का जीवन में स्थान ही क्या है ? जब आपके चाहते हुए भी सुख चला ही जायेगा, और न चाहने पर भी दुःख आ ही जायेगा। तो जो चला ही जायेगा, उसके प्रलोभन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। और जो आपके न चाहने पर भी आ ही जायेगा, उसके भय से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

इसलिये आज हम जो सुख का आवाहन करते रहते हैं, चिन्तन करते रहते हैं, दुःख से भयभीत होते रहते हैं। आप जानते हैं, आज के युग में लोगों ने बड़ा प्रयास किया, बड़े प्रयत्नशील हैं, किस बात के लिये ? कि जीवन में जो सुख का भाग है, वह तो सुरक्षित बना रहे, और जो दुःख का भाग है वह निकाल दिया जाय। प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्दी आती है, तो कहते हैं कि कमरे को गर्म कर दो। और ग्रीष्म ऋतु आती है, तो कहते हैं कि कमरे को ठंडा कर दो। तो आप निरन्तर इसी प्रयास में लगे रहते हैं कि किसी तरह से सुख बना रहे और दुःख न आये। दूसरा प्रयास क्या रहता है ? कि हम अपने से निर्बलों पर सदैव विजयी बने रहें, शासक बने रहें। आप विचार करके देखिये, बल का जो सम्पादन है वह किस काम आयेगा ? क्या बल से आप समान बल पर अथवा अधिक बल पर विजयी होंगे ? कभी नहीं हो सकते। इसका दुरुपयोग क्या होगा ? दूसरों पर विजयी होने की अभिरुचि। सदुपयोग क्या होगा ? निर्बलों की सेवा में। तो बल का जो सदुपयोग है, वह तो है सेवा में।

सेवा के लिये जिस बल की आवश्यकता है, वह बल आपको बिना माँगे, मिलेगा। क्यों ? यह मंगलमय विधान है।

परन्तु जब हम प्राप्त बल निर्बलों पर विजयी होने के लिए प्रयोग करने लगते हैं, तब क्या होता है ? कि धीरे-धीरे बल की क्षति होने लगती है। और अन्त में वह विजयी उसी स्थिति में आता है जिस स्थिति में पराजित था। ऐसा विधान ही है। इस दृष्टि से बल का उपयोग एक-मात्र सेवा में है। परन्तु आप जानते हैं, सेवा की अभिरुचि अथवा सेवा की सामर्थ्य कब आती है जीवन में ? जब जीवन प्रेम से भरा हो। जिसमें हमारा प्रम नहीं होता, हम उसको सेवा नहीं कर सकते। एक बात। दूसरी बात यह है कि सेवा करने के लिये इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि जो सेवा-सामग्री है, यदि हम उसे अपना मानेंगे, तो हम सेवा नहीं कर सकते।

पुण्य-कर्म में और सेवा में अन्तर क्या है ? अपनी वस्तु मानकर आप किसी की सहायता करते हैं, तो वह पुण्य-कर्म है, सेवा नहीं है। अपनी योग्यता मानकर सेवा करते हैं, तो वह भी कर्म है। अपनी सामर्थ्य मानकर सेवा करते हैं, तो वह भी कर्म है। सेवा कब होती है ? जिसकी सेवा करना है, और जिस वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा करना है, वह वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य अपनी नहीं है, अपितु उसी की है, जिसकी सेवा करनी है। तो किसी की धरोहर को आदरपूर्वक भेंट कर देना यह है— सेवा। किन्तु आज हम इस बात को भूल जाते हैं। और जब कोई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्राप्त होती है, तो हम उसे अपनी मान लेते हैं। जब अपनी मान लेते हैं, तब उसके द्वारा अपने सुख के सम्पादन की रुचि जागृत् होती है। यह रुचि भूल से उत्पन्न हुई है। वास्तविक नहीं है। और जो चीज भूल से उत्पन्न होती है, वह किसी के लिये उपयोगी नहीं होती, न अपने लिये, न दूसरों के लिये।

इसलिये सबसे पहले इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमें जो कुछ मिला है, क्या वह हमारा-अपना है ? एक बात। दूसरी बात—क्या अपने लिए है ? इन दोनों प्रश्नों का निर्णय अपने द्वारा कर सकें और यह अनुभव कर सकें कि वास्तव में जो अपने को मिला है, वह अपना नहीं है। क्योंकि, मिला हुआ कहते ही उसको हैं, जो किसी का दिया हुआ हो। हम लोगों को जिस कमरे में ठहरने को मिला है, क्या वह कमरा हम लोगों का अपना है ? आपको मानना पड़ेगा—नहीं। तब क्या जो शरीर हम लोगों को मिला है, वह अपना है ? जैसे कमरा मिला है,वैसे ही शरीर मिला है,वैसे ही योग्यता मिली है,सामर्थ्य मिली है। वैसे ही सम्बन्धी मिले हैं। भाई ! मिले हुए का अर्थ तो एक ही न ! होगा। तो जो हम सबको मिला है, वह हम-सबका व्यक्तिगत नहीं है।

किन्तु जिसने दिया है, वह इतना महान् है कि इस उदारता से दिया है कि हमें अपना ही मालूम होता है। यद्यपि आप देखेंगे कि पिता की दी हुई सम्पत्ति पुत्र को अपनी नहीं मालूम होती, उसमें अन्तर मालूम होता है। किन्तु जिस मंगल-मय विधान से हमें शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मिली है, ये हमें यही मालूम होती हैं कि हमारी अपनी हैं। आप देखगे, जब कोई बालक युवावस्था को प्राप्त होता है, उसके घर में कितनी ही सम्पत्ति हो उसके पिता की उपार्जित, किन्तु जब तक वह स्वयं उपार्जन करके खाता-पीता नहीं है, तब तक उसको वह रस नहीं मिलता, जो उसे अपनी उपार्जित सम्पत्ति से मिलता है। क्यों नहीं मिलता ? यह एक स्वाभाविक बात है कि दूसरों की दी हुई जो वस्तु होती है, वह उतनी प्यारी नहीं लगती, जितनी

अपनी उपार्जित होती है। किन्तु जिसने हमें उपार्जन की शक्ति दी, योग्यता दी, कर्म-अनुष्ठान के लिए कर्म-सामग्री दी, विचार करने के लिए विवेक-रूपी प्रकाश दिया, इन्द्रिय-दृष्टि पर विजयी होने के लिए बुद्धि-दृष्टि दी, वह हमें ऐसी ही मालूम होती है कि मानो, हमारी ही हैं।

तो यह तो उस दाता की महिमा है। यह वास्तविकता थोड़े ही है ! जब आप इस निर्णय पर पहुँच जाँय, ऐसा आपको अनुभव हो कि मुझे जो कुछ मिला है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिए नहीं है। आप कहेंगे, कैसे ? आप विचार तो करें, आपके पास जो कुछ है, जब तक वह दूसरे के लिये उपयोगी नहीं होता, तब तक दूसरे के पास जो कुछ है, वह आपके लिए उपयोगी होता है क्या ? आप दैनिक जीवन में विचार करें। जब कोई बोलता है, तो वह श्रोता के काम आता है। और जब कोई सुनता है, तब सुनने से जो प्रतिक्रिया होती है, वह भले ही वक्ता के लिए उपयोगी हो। ऐसे ही आप देखेंगे, पति के पास जो कुछ है, वह पत्नी के और पत्नी के पास जो कुछ है वह पति के काम आता है। दो वर्गों के बीच, दो व्यक्तियों के बीच, दो देशों के बीच आप पायेंगे कि जो जिसके पास हैं, वह उसके काम नहीं आता। वह दूसरे के काम आता है। और दूसरे के पास जो कुछ है, वह अपने काम आता है।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि मिला हुआ अपने लिए नहीं है। यह आपका अपना ज्ञान है। यह कोई कल्पना नहीं है, मान्यता नहीं है। यह तो आपका अपना ज्ञान है। आपका अपना अनुभव है कि जो आपको मिला है, वह दूसरे के काम आता है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि हम-सब में वास्तव में—एकता है।

किन्तु वह एकता सुरक्षित क्यों नहीं रहती ? वह इसलिये नहीं रहती कि हम मिले हुये की ममता से, मिले हुये के तादात्म्य से अपने में अनेक प्रकार की कामनायें उत्पन्न कर लेते हैं। यह जो कामनाओं की उत्पत्ति है, वह प्राकृतिक नहीं है। यह भूल-जनित है, इसलिये उनकी निवृत्ति हो सकती है। यदि कामनाओं की उत्पत्ति प्राकृतिक होती, तो निष्कामता कभी किसी को प्राप्त न होती। परन्तु विचारशीलों का मत है कि प्रत्येक भाई-बहिन को निष्कामता प्राप्त हो सकती है। कब प्राप्त होती है ? कि जब वह मिले हुये की ममता से, मिले हुये के तादात्म्य से, मिले हुये के दुरुपयोग से अपने को रहित कर लेता है, तब उसे निष्कामता मिलती है।

अब आप सोचिये, यदि आपसे कोई कहे कि आप वह कीजिये, जो आप नहीं कर सकते। तो आप कहेंगे कि यह बात असम्भव है। किन्तु कोई आपसे कहे कि आप जो कर सकते हैं, वह करें। तो क्या आप नहीं कर सकते ? आप मिले हुये का सदुपयोग कर सकते हैं। कब ? जब दुरुपयोग न करने का निर्णय कर लें तब। देखिये, यह जो जीवन में कर्त्तव्य परायणता आती है न ! वह भी श्रम-साध्य नहीं है, सहज है, स्वाभाविक है। परन्तु आज बड़ी कठिन मालूम होती है। और ऐसा मालूम होता है कि हम बड़े परिश्रमपूर्वक कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। बड़ी कठिनाइयों से कर्तव्यपालन करते हैं। यह बात भ्रमात्मक है। किन्तु ऐसा मालूम होता है, प्रतीत होता है। क्योंकि हम वही करते हैं जो नहीं करना चाहिये। यदि आप यह निर्णय कर लें कि हम मिले हुये का दुरुपयोग नहीं करेंगे, तो क्या परिणाम होगा उसका ? कि या तो न करने की स्थिति प्राप्त होगी, या सदुपयोग होगा। सदुपयोग करेंगे—ऐसा नहीं;

दुरुपयोग न करनें के निर्णय से ही। अथवा यों कहिये, कि दुरुपयोग न करने से स्वतः सदुपयोग होता है।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि कर्तव्य परायणता स्वतः जीवन में आती है। उसके लिये केवल इस असत् का त्याग करना पड़ता है कि हम मिले हुये का दुरुपयोग न करें। यह असत् है न ! आप सोचिये, आप सबल से क्या आशा रखते हैं ? यही आशा रखते हैं कि वह आपकी रक्षा करे। किन्तु स्वयं निर्बल की रक्षा करना आपको कठिन मालूम होता है। क्यों कठिन मालूम होता है ? कि आप इस बात को भूल जाते हैं कि बल निर्बल की सेवा-सामग्री है। अपितु यह मानने लगते है कि हमें बल के द्वारा अपने व्यक्तिगत सुख का सम्पादन करना है। व्यक्तिगत सुख मांग औरभोग दो रूपों में आपके सामने आता है। मांग भी व्यक्तिगत सुख ही है। और कामना-पूर्ति भी व्यक्तिगत सुख है।

तो जब तक जीवन में भोग और मांग की रुचि रहती है, तब तक मानव मिले हुये बल का, मिली हुई वस्तु का सदुपयोग नहीं कर पाता। क्यों ? जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मंगलमय विधान से दूसरों के लिये मिली है, उसका उपभोग जब हम अपने लिये करना चाहते हैं; तब उसका सदुपयोग नहीं कर सकते। तो सबसे पहले प्रत्येक भाई-बहन को इस वास्तविकता पर इस असलियत पर विचार करना होगा कि हमें जो कुछ मिला है, वह तो अपने लिये नहीं है। यह निर्णय आपको स्वयं अपने सम्बन्ध में करना है। कोई दूसरा आपके सम्बन्ध में निर्णय नहीं कर सकता और न कोई दूसरा बल पूर्वक करा ही सकता है।

२४

ब

क्या आप-हम इस बात को नहीं जानते हैं कि वैधानिक-दृष्टि से राष्ट्र ने एक नियम बना दिया कि तुम एक सीमा से आगे सम्पत्ति अपने लिये नहीं रख सकते ? इस नियम का पालन कितने लोग सचमुच कर पाते हैं ? इस बात को कितने लोग अपनी बात मान पाते हैं ? हमने बड़े-बडे धार्मिक-विचार के लोगों से यह सुना है, उन्होंने हमसे कहा है कि हम क्या करें ! हम तो इन्कम-टैक्स इसलिये बचाते हैं कि सरकार के पास जो वस्तु जाती है उसका सदुपयोग ही नहीं होता। और यह बात किसी सीमा तक ठीक भी है, कम से-कम इस देश के लिये।

एक भाई ने ब्लैक मार्केट किया। मैंने उनसे पूछा कि लोग कहते हैं कि आपके यहां भी ब्लैक मार्केटिंग हुआ। तो उन्होंने बड़ी ईमानदारी से कहा कि हुआ है। हमने कहा कि कैसे हुआ ? तब उन्होंने कुछ बातें बताईं—हमारी दुकान पर जो माल आता था कोटा का मील से, वह पूरा नहीं उठता था, कोटा अधिक था, बिक्री कम थी,हमने सोचा कि जिस माल को हम नहीं लेते हैं उसका मिल-औनर ब्लैक करेगा, किसी को देते हैं तो वह ब्लैक करेगा, अतः यह बचा हुआ माल ब्लैक में ही बिकेगा, हम ही क्यों न करें !' तो उन्होंने किया और उसके बदले में—मैं उन्हीं की

कही बात कहता हूं—"लाखों रुपया आया, थोड़ा-बहुत नहीं, पर वह सारा का सारा रुपया मैंने सार्वजनिक काम में लगा दिया।" यह बात भी ठीक ही है। तो बहुत से लोग ऐसा भी सोच बठते हैं कि हम ब्लैक से रुपया कमायेंगे और किसी अच्छे काम में लगा देंगे।

आप सोचिये। बात किसी दृष्टि से किसी सीमा तक ठीक भी है कि आज की सरकार के काम बड़े लचर-पचर होते हैं। जितना व्यय होता है, उतना काम नहीं होता। यह बात भी आज ठीक है। परन्तु एक बात तो सोचिये, चरित्र का महत्व बढ़ा कि वस्तु का? आपका यह मानना पड़ेगा कि वस्तु का महत्व बढ़ा। जब तक जीवन में वस्तु का महत्व है, तब तक वास्तविक निर्लोभता का साक्षात्कार होगा? अथवा यों कहिये कि क्या हमें निर्लोभता प्राप्त होगी? वस्तु का महत्व होते हुये निर्लोभता प्राप्त नहीं हो सकती। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि निर्लोभता प्राप्त हुये बिना दरिद्रता का नाश नहीं होता, आपके पास सम्पत्ति कितनी ही हो।

दरिद्रता का स्वरूप क्या है? अप्राप्त की कामना बनी रहे—एक बात। आवश्यक वस्तु की प्राप्ति न हो—दो बात। दरिद्रता का अर्थ इसके अतिरिक्त कुछ होगा—वह कम-से-कम मेरी समझ में नहीं आया। देखिये, सम्पत्तिशाली का अर्थ यह नहीं है कि एकाउण्ट बेंक में रखा रहे तो आप बड़े सम्पत्तिशाली हैं। सम्पत्तिशाली का अर्थ जो मैंने समझा है, वह यह है कि आवश्यक वस्तु आवश्यकता से पूर्व ही आपको प्राप्त हो जाय। आप देखेंगे कि बालक का जन्म पीछे होता है और मां के स्तन में दूध पहले आ जाता है। यह नियम है कि आवश्यकता से पूर्व आवश्यक वस्तु की उत्पत्ति होती ही है। तो वास्तव में सम्पत्तिशाली

कौन हुआ ? कि जिसको आवश्यकता उत्पन्न होने से पहले वस्तु की प्राप्ति हो जाय। दरिद्रता क्या हुई ? कि आवश्यकता तो है, पर वस्तु है ही नहीं। अथवा जो है उसमें तो सन्तोष न हो, और जो नहीं है, उसकी कामना हो।

अप्राप्त की कामना सिद्ध करती है कि हमारे जीवन में दरिद्रता है। प्राप्त का सदुपयोग, और अप्राप्त की कामना का न होना, संग्रह की रुचि का न होना, मिले हुये का दुरुपयोग न करना—इससे निर्लोभता सिद्ध होती है। और जब जीवन में निर्लोभता आ जाती है, तब आप इस बात को मानें, न मानें, अनुभव करके देखें कि निर्लोभता के आने से आवश्यक वस्तु की प्राप्ति होती है। तो निर्लोभता का असली स्वरूप क्या हुआ ? कि वस्तु से अपना मूल्य अधिक हो जाय। शरीर के साथ इस विधान को लगायेंगे तो जहां निर्लोभता आयेगी, वहां निर्मोहता भी आ जायेगी। परिस्थिति के साथ लगायेंगे तो वहां निष्कामता भी आ जायेगी। अवस्था के साथ लगायेंगे तो असंगता भी आ जायेगी।

एक ही गुण स्थान भेद से निर्लोभता, निर्मोहता, निष्कामता और असंगता के रूप में अभिव्यक्त होता है। उसी प्रकार एक ही दोष स्थान भेद से कहीं लोभ के रूप में, कहीं मोह के रूप में, कहीं कामना के रूप में, कहीं तादात्म्य के रूप में है। अनेक दोष नहीं हैं। एक ही दोष है, जो स्थान भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। और एक ही गुण है, जो स्थान भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। तो कौन सा दोष है ? "यह" के द्वारा अपना मूल्यांकन करना। जो मिला है, उसी से मेरा महत्व है—यही सबसे बड़ा दोष है। और सबसे बड़ा गुण क्या है भैया ? एक ही

वाक्य में सोचिये। जो "है" उसी में मेरा महत्व है। यह सबसे बड़ी विशेषता है।

"है" को मिले हुये से अलग मानना होगा। मिला हुआ—है और "है" एक नहीं हैं। जैसे आप कहें कि मेरे पास शरीर है। शरीर को आप "है" नहीं कह सकते। शरीर तो आपको मिला है। "है" उसे कह सकते हैं जिसका कभी नाश न हो और जिससे कभी विभाजन न हो। आप देखेंगे कि कोई भी उत्पत्ति उससे विभाजित नहीं होती जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है। अतः समस्त विश्व उससे अलग हो ही नहीं सकता जो उसका आश्रय है, जो उसका प्रकाशक है। तो हम-सब अपने आश्रय से, अपने प्रकाशक से विभाजित नहीं हो सकते स्वरूप से। किन्तु आज हम उससे अपने को अलग मानते हैं। और जो मिला हुआ है उससे अभिन्न मानते हैं।। यह असत् का संग हो गया न !

यानी जो मौजूद है उससे तो अपने को अलग मान लिया, और जो मिला है उससे अपने को अभिन्न मान लिया। तभी न ! आप कहते हैं—शरीर मेरा है। आप यह क्यों नहीं स्वीकार कर पाते कि प्रभु मेरा है ? आप विचार करके देखिये, जिस प्रकार आपको आज शरीर अपना मालूम होता है, उसी प्रकार उसी सत्यता के साथ, उसी दृढ़ता के साथ, उसी निर्विकल्पता के साथ, उसी आस्था और विश्वास के साथ यह क्यों नहीं मालूम होता कि प्रभु मेरा है ? इसलिये न ! कि मिले हुये को आपने अपना मान लिया, और जो मौजूद है उसे आप अपना नहीं मान पाते। उसी का परिणाम क्या होता है कि आज आपके सामने यह प्रश्न है कि क्या बतायें ! भगवत्-स्मृति नहीं होती, स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, परम शान्ति नहीं मिलती, पराधीनता

नहीं मिटती; निरसता का नाश नहीं होता, जड़ता में आबद्ध हो गये हैं। यह सभी बातें आपके जीवन में क्यों मालूम होती हैं ?

एक ही बात से कि जो मौजूद है वह आपको अपना नहीं मालूम होता है। इस भूल के रहते हुये आप बलपूर्वक कितना ही तो तप कीजिये, कितना ही अध्ययन कीजिये। आपका किया हुआ तप, आपका किया हुआ अध्ययन आप में एक मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करेगा। क्यों ? मूल में भूल है यों। मानव-सेवा-संघ ने यह नहीं कहा कि आप तप न करें, कि आप अध्ययन न करें। या तप की कोई निन्दा की हो या खण्डन किया हो, या अध्ययन का खण्डन किया हो—यह नहीं कहा, पर यह अवश्य कहा कि जो मिला है यदि उसको आप अपना मानेंगे और उसको अपना मान कर उसके द्वारा जो कुछ करेंगे, उससे आपकी मांग पूरी नहीं होगी। उससे आप मिथ्या-अभिमान में आवद्ध होंगे। और जहां अभिमान आ जाता है वहां अनेक प्रकार के दोष स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं।

इसलिये जो मिला है उसके द्वारा आप अपने लिये कुछ नहीं कर सकते। उसके द्वारा तो आप विश्वभगवान् की सेवा कर सकते हैं, चाहे किसी भी नाते कीजिये। किन्तु सेवा ही उसके द्वारा कर सकते हैं। अपने काम आपको जो मिला है, वह नहीं आ सकता। इस बात पर यदि आप गम्भीरता पूर्वक विचार कर लें, और यह बात आपकी बात मालूम हो, ऐसा अनुभव हो कि यह तो मेरा ही ज्ञान है, यह तो मेरा ही सत्य है। तो आप बड़ी ही सुगमता पूर्वक ममता से, कामना से, तादात्म्य से रहित हो सकते हैं। ममता, कामना, तादात्म्य के मिटाने के लिये किसी भी श्रम-साध्य साधन की आवश्यकता नहीं होती।

परन्तु यह रहस्य कोई विरले ही विचारशील जान पाते हैं। नहीं तो लोग ऐसा ही सोचते हैं कि हम विधिवत् शास्त्रों का अध्ययन नहीं करेंगें, तब तक भला कैसे ममता, कामना, तादात्म्य का नाश हो पायेगा ! लेकिन शास्त्रों के अध्ययन करने के बाद भी—जिन्होंने किया है, उनसे जरा मिलिये और उनसे यह कहिये कि जरा, ईमानदारी से अपनी दशा तो बतादो। तो मैंने ऐसा सुना है कि लोग यह कहते हैं कि हम क्या बतायें ! सब कुछ पढ़ने के बाद भी समस्या हल नहीं हुई।

एक बार मैं काशी में ठहरा हुआ था। तो एक शास्त्री मेरे पास आये। और उन्होंने कहा कि महाराज ! मैं यह जानना चाहता हूं कि आपके विचार से, आपके मत से सृष्टि का स्वरूप क्या है ? मैंने कहा कि पंडित जी ! आप जितना पढ़े हो उतना तो मैं बीस वर्ष में भी नहीं पढ़ पाऊँगा। और आप मुझसे पूछते हैं कि मेरे मत से सृष्टि का स्वरूप क्या है ? बोले, 'स्वामी जी ! मैं सच कहता हूं कि मैं इस विषय पर अनेकों व्याख्यान दे सकता हूं, विवाद कर सकता हूँ, परन्तु मेरा समाधान नहीं है कि वास्तव में सृष्टि का स्वरूप क्या है, ! यह दशा होती है अध्ययन की। क्यों होती है ?

इसमें एक रहस्य है। और वह रहस्य यह है कि आप जो कुछ अध्ययन करेंगे उसकी पहुंच बुद्धि तक है। यानी अध्ययन करने से आपकी बुद्धि सुन्दर बनती है, सबल बनती है। लेकिन सम होती है क्या ? आप विचार करें। अध्ययन-मात्र से बुद्धि सम होती है क्या ? बुद्धि सम होती है—निष्काम होने से, निर्मम होने से। अध्ययन से सम नहीं होती। अब आप सोचिये, आप बिना अध्ययन के यह अनुभव करते ही हैं कि मिली हुई

वस्तु मेरी नहीं है। और आपने ममता का त्याग कर दिया, तो क्या आपकी बुद्धि सम नहीं होगी ? अवश्य होगी। और जब बुद्धि सम होगी, तब क्या विचार का उदय नहीं होगा ? अवश्य होगा। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी ? प्रीति की जागृति नहीं होगी ? अवश्य होगी।

इसलिये मेरा यह निवेदन है कि जब आप अपने जाने हुये असत् का त्याग कर देते हैं, तब आप बड़ी ही सुगमतापूर्वक अकर्त्तव्य से रहित होते हैं, असाधन से, समस्त आसक्तियों से रहित होते हैं। और अकर्तव्य से रहित होते ही जीवन में कर्तव्य परायणता आती है। असाधन से रहित जीवन में साधन-परायणता आती है। आसक्तियों से रहित होते ही जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। तात्पर्य यह निकला कि प्रत्येक भाई और प्रत्येक बहन अपने ही द्वारा अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं। कब ? जब जाने हुए असत् का त्याग करें तब।

आज साधक-समाज के लिये अपने जाने हुये असत् का त्याग हो गया दुर्लभ। तब दूसरों के बताये असत् का त्याग कर पायेंगे आप ? जब आप अपने ही जाने हुये असत् का त्याग नहीं कर सकते, तब किसी आचार्य ने कह दिया, किसी ग्रन्थ में लिख दिया, किसी ग्रन्थकार ने लिख दिया कि भाई! यह तो असत् है, इसका त्याग करो। तो अपने जाने हुये असत् का तो त्याग न करो, तब ग्रन्थ में पढ़े हुये असत् का त्याग आप कर पायेंगे ? यह आप अपने से पूछिये। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि यदि आप ग्रन्थ में बताये हुये असत् का त्याग कर दें। प्रयोजन तो केवल असत् के त्याग से है। किन्तु यदि आप गम्भीरता से विचार करेंगे तो अपने जाने हुये असत् का त्याग

अपने लिये जितना सुगम होगा, उतना दूसरों के बताये हुए असत् का त्याग सुगम नहीं होगा।

मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में इस बात पर बहुत ही ज्यादा जोर डाला है कि आप अपने जीवन में-से जाने हुये असत् का त्याग कर दें। अथवा आप अपने सम्बन्ध में विचार करें। आपको स्वतः असत् का ज्ञान होगा। और सच पूछिये तो ज्ञान असत् का ही होता है, सत् की तो प्राप्ति होती है। देखिये, आप जिसको जानते हैं, उसे उससे असंग होकर जानते हैं। और आपको जो प्राप्त होता है, वह उससे अभिन्न होकर होता है। प्राप्ति में अभिन्नता, अनुभूति में असंगता हेतु है। तो आप असत् को जान सकते हैं, असत् को जानते भी हैं। और सत् को प्राप्त कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है।

परन्तु जब तक आप यह सोचते हैं कि हमारे जीवन में जो भूल है, वह किसी दूसरे के द्वारा मिटेगी, तब तक भूल रहती ही है। और जब आप यह सोचते हैं कि हमारे जीवन में क्या भूल है ! देखने का प्रयास आप करते हैं, तब आपको भूल का ज्ञान भी होता है। और भूल के ज्ञान-मात्र से भूल का नाश भी होता है। और आप भूल-रहित होकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक जीवन की वास्तविकता को प्राप्त करते हैं। अर्थात् आपको परम प्रेम की प्राप्ति होती है। चाहे ऐसा कह दो कि प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता है। और चाहे ऐसा कह दो कि आपको प्रेम की प्राप्ति भी होती है, स्वाधीनता की प्राप्ति भी होती है. परम शान्ति की प्राप्ति भी होती है, दुःखों की निवृत्ति भी होती है। चाहे इन चारों बातों को सामने रखकर कह दो ।.और चाहे ऐसा कह

दो कि भाई ! प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है ।

क्यों ? दुःख का नाश हो भी जाय, शान्ति मिल भी जाय, स्वाधीनता मिल भी जाय, और आपके जीवन में यह अहम् बना रहे कि "मैं शान्त हूँ", "मैं स्वाधीन हूँ ।" तो यह तो बताओ कि आज तुम शान्त हो, स्वाधीन हो, तो दुःखी कौन था ? तो दुःखी भी मैं ही था। अगर तुम फिर दुःखी होगये, तब क्या करोगे ? विचार तो करो । इसका उपाय क्या है ? न रहे बांस, न बजे बांसुरी। न अहम् रहे, न दुःखी होने का भय रहे, न पराधीन होने का भय रहे। अब आपको यह भ्रम होगा कि जब हमीं नहीं रहे, तब रहा क्या ! कि भाई; रहा वह जो "है"। क्या है ? "है" और उसकी प्रियता। बहुत गम्भीरता से विचार कीजिये । "है" और उसकी प्रियता है। तो वह जो आपका अहम् है; वह प्रियता में परिणत होगा ।

देखिए, यह जो तत्व-दृष्टि से बताया जाता है कि सीता राम हैं, राधा कृष्ण हैं, गौरी शिव हैं, इसका क्या मतलब ? शिव की प्रियता ही तो गौरी हैं। राम की प्रियता ही तो सीता हैं। कृष्ण की प्रियता ही तो राधा हैं । आप विचार करके देखेंगे, तो गुरु-तत्व क्या है ? गुरु-तत्व भी तो साध्य की प्रियता ही है। मानव-सेवा-संघ की भाषा में जिसे साधन-तत्व कहा है, सन्त-मत में उसे गुरु-तत्व कहा है, वैष्णव मत में उसे राधा तत्व, गौरी-तत्व, सीता-तत्व कहा है। और आप जानते हैं ? प्रियता से प्रियतम को रस मिलता है ! रस मिलता है !! प्रियता प्रियतम के लिए उपयोगी है। प्रियता प्रियतम से अभिन्न है, भिन्न नहीं है। तो इस दृष्टि से विचार करेंगे, तो आपको मानना ही पड़ेगा कि शान्ति, स्वाधीनता ये भूमि है प्रियता की ।

अगर आप शान्ति में रमण करते रहे, स्वाधीनता में सन्तुष्ट होते रहे, तो प्रियता जागृत नहीं होगी। स्वाधीनता में रति—इसका मतलब क्या ? 'स्व' में रति। यह भी तो प्रियता का ही रूपान्तर है। तो तात्पर्य क्या निकला ? कि आपका जो अस्तित्व था; वह किसी की प्रीति हो गया। प्रीति में अपना कुछ नहीं होता। प्रीति में जो कुछ होता है, वह प्रियतम का ही होता है। अर्थात् प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव है और कुछ नहीं। तो आप मानव होने के नाते उस प्रियतम के स्वभाव से अभिन्न हो सकते हैं; और इसी परिस्थिति में हो सकते हैं और स्वाधीनता पूर्वक हो सकते हैं।

कब ? जब इस बात को मान लें कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। इस बात को मानते ही असंगता प्राप्त होती है। असंगता के आते ही परिच्छिन्नता नाश होती है, पराधीनता नाश होती है। किन्तु पराधीनता से पाड़ित प्राणी का जब स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है, तब वह यह भूल जाता है और उसका भोग करने लग जाता है। यह जो आवाज है कि "मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं शुद्ध हूँ", "मैं बुद्ध हूं" "मैं बुद्ध हूं"—यह आवाज क्या है ? यह पराधीनता के अन्त के बाद पहली आवाज है, पहली आवाज है। इसी आवाज को सिद्धान्त मत मान लो, साधन मान लो। यह साधन है। यह साध्य नहीं है। तो साध्य क्या है ? अगाध प्रियता, अनन्त प्रियता, नित्य प्रियता। आप जानते हैं ! कि जिज्ञासा की पूर्ति होती है, कामना की निवृत्ति होती है। किन्तु प्रियता की न तो निवृत्ति होती है, न पूर्ति होती है और न कोई क्षति होती है।

आप सोचिये, जिसकी क्षति नहीं, जिसकी निवृत्ति नहीं उसे क्या आप असत् कह सकते हैं ? उसे असत् नहीं सकते। उसे आप अभावयुक्त नहीं कह सकते। उसे आप अधार्मिक नहीं कह सकते। जिसकी पूर्ति नहीं, उसे आप क्या सीमित कह सकते हैं ? सीमित नहीं कह सकते। तो प्रीति भावरूप है, असीम है, चिन्मय है, नित्य है और अनन्त को रस देने में समर्थ है। और प्रत्येक भाई की, प्रत्येक बहिन की जो एकता होती है अभिन्नता होती है, वह प्रीति के ही साथ होती है। चाहे वह प्रीति विश्व-प्रेम के रूप में आपको भासित हो, आत्म-रति के रूप में भासित हो, अथवा प्रभु-प्रेम के रूप में भासित हो।

किन्तु प्रीति स्वभाव से विभु है, सीमित नहीं है। नित्य है, अनित्य नहीं है। चिन्मय है, जड़ नहीं है। इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। और वह प्रेम निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से ही साध्य है। और निष्कामता, निर्ममता और आत्मीयता असत् के त्याग में ही निहित है।

❋ हरि ओऽम ❋

२५

वस्तुओं के दुरुपयोग का अर्थ है कि उनको व्यक्तियों की सेवा में न लगाया जाय।

वस्तुओं के सदुपयोग का अर्थ है कि उनको व्यक्तियों की सेवा में लगा दिया जाय।

सेवा का क्रियात्मक रूप कितना ही अल्प हो अथवा विभु हो, उसके फल में कोई अन्तर नहीं है।

कर्म जिस सीमा का होता है, उसका फल भी उसी सीमा का होता है। परन्तु सेवा अल्प हो अथवा विशेष, उसका फल है—निर्विकार हो जाना, निष्काम हो जाना, स्वाधीन हो जाना, और प्रियता की जाग्रति होना।

त्याग का भी यही फल होता है, और आत्मीयता का भा यही फल होता है।

श्रीकृष्ण का प्रेम ही मूर्तिमान् राधा हैं। सन्त-मत के अनुसार साध्य की अगाध प्रियता ही गुरु-तत्व है। साधक की उसी से अभिन्नता होती है। प्रेम का रस अनन्त होता है।

जहां दो नदियों का संगम होता है, वहाँ किसी प्रकार का भेद नहीं है। जल ही जल है दोनों ओर। जातीय एकता भी है और स्वरूप की एकता भी है; फिर भा नित-नव गति है।

———

२५

अ

प्रवचन :

सच बात तो यह है कि कोई भी ऐसी नई बात जिसे आप नहीं जानते हैं, नहीं बता सकता। कारण क्या है कि प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में जो श्रद्धा है, जो आस्था है, जो क्रियाशीलता है, उसी के द्वारा उसका विकास है। हम-सब जब यह जानते ही हैं कि किसी भी वस्तु, दशा या परिस्थिति के आश्रय से जीवन में स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती, तो फिर वस्तुओं के साथ, व्यक्तियों के साथ जो तादात्म्य है, उससे क्या मिल सकता है! यह बात अलग रही कि हम वस्तुओं के सदुपयोग से, तथा व्यक्तियों की सेवा से, परिस्थितियों के सदुपयोग से अपने को उपयोगी बनायें। किन्तु वस्तुओं से हम उपयोगी होंगे—यह भूल है।

सदुपयोग का अर्थ क्या है ? सदुपयोग का अर्थ है-वस्तुओं का दुरुपयोग न करना। वस्तुओं का दुरुपयोग क्या है ? इस पर आप विचार करें, तो मालूम होगा कि जो वस्तु व्यक्तियों की सेवा में व्यय नहीं होती, वह उसका दुरुपयोग है। अर्थात् वस्तु

व्यक्तियों के लिये है। किन्तु व्यक्ति यदि विवेकी नहीं है, सत्य का जिज्ञासु नहीं है, तो उस व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। क्यों? विवेक-शून्य जीवन मानव-जीवन नहीं है। अब विवेक का अर्थ क्या है? आप जानते हैं कि क्रियाशीलता, चिन्तन और स्थिति अथवा स्थिरता—ये अवस्थायें हैं। प्राकृतिक विधान से अपने आप आती हैं। इन अवस्थाओं के तादात्म्य से हम अपने को परिच्छिन्नता में आवद्ध करते हैं।

अवस्थायें प्राकृतिक हैं। तादात्म्य भूल-जनित है। और अपनी भूल मिटाने का दायित्व ही अपने पर है। और इसी का नाम 'सत्संग' है। तो जो अवस्था प्राप्त है, उससे यदि असंगता का अनुभव हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक समता के साम्राज्य में हम-सबका प्रवेश हो सकता है। अर्थात् समता अवस्थाओं से असंग होने में है। आप चाहो तो, न चाहो तो, अवस्थायें अपने आप बदल जाती हैं, सदैव नहीं रहतीं। किन्तु जीवन की मांग अविनाशी की है। हम सदैव रहें—यह जीवन की माँग है। तो इस मांग की पूर्ति के लिये अवस्थाओं से असंग होना आवश्यक है।

अवस्थाओं से असंग होने के लिये सबसे सुगम- सहज और स्वाभाविक उपाय यही मालूम होता है कि जिस अवस्था का आपको भास है, प्रतीति है, उससे विमुख होकर अनुभव करें, कि क्या है? जैसे किसी पौधे को आप उगता हुआ देखते हैं, फूलता-फलता हुआ देखते हैं, किन्तु उसी पौधे का अभाव भी देखते हैं। उसी प्रकार आप अपने व्यक्तित्व में क्रियाशीलता भी देखते हैं और स्थिरता भी देखते हैं। अथवा यों कहिये कि चिन्तन-रहित दशा भी देखते हैं। तो जो चीज देखने

में आती है, वह देखने वाले से भिन्न होती है। और जिसके द्वारा देखने में वह आती हैं, वह भी वास्तव में दृश्य ही हैं।

इस दृष्टि से अगर आप सोचेंगे, तो समस्त अन्तः-बाह्य करण दोनों करण—बाह्यकरण भी और अन्तःकरण भी—चाहे शरीर-इन्द्रिय आदि कहो, चाहे मन-बुद्धि आदि कहो, ये दोनों ही करण आपको प्राप्त हैं। और जब आप संकल्प पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करते हैं, तब आपका सम्बन्ध इन करणों से होता है, इन साधनों से होता है। और इस सीमा तक सम्बन्ध हो जाता है कि इन साधनों में और अपने में यानी जो साधन हैं कार्य करने के उनमें और अपने में विभाजन ही नहीं कर पाते। और जब मिले हुए साधनों में और अपने में विभाजन नहीं कर पाते, तब व्यक्तित्व को ही "मैं" मान लेते हैं कि-शरीर के रूप में, इन्द्रियों के रूप में, मन-बुद्धि आदि के रूप में जो कुछ है, यही "मैं" हूँ।

इस भूल का परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व के साथ एकता का अनुभव करने पर किसी-न-किसी प्रकार की कामना का जन्म हो जाता है। और जब कामना का जन्म हो जाता है तब उसकी पूर्ति में जो सुख-दुःख है, उसमें आबद्ध हो जाते हैं। तो बन्धन क्या है ? सुख-दुःख में आबद्ध होना—यही तो बन्धन है। इस बन्धन से मुक्त होने के लिये उपाय क्या है ? अपने में और जो करण आपको प्राप्त हैं, उनमें विभाजन स्वीकार करें, और अपने ही द्वारा स्वीकार करें। जिसे आप मेरा करके अनुभव करते हैं, उसे 'मैं' करके स्वीकार न करें। जब 'मेरे' को 'मैं' करके स्वीकार नहीं करते, तब "मैं" क्या है ?' यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। "यह" "मैं" नहीं है—यह तो आपका अनुभव है।

परन्तु "मैं" क्या हूं ?"—यह आपका अनुभव नहीं है। यह आपकी जिज्ञासा है !

तो इस जिज्ञासा की पूर्ति कैसे होती है ? निष्कामता से, निर्ममता से, असंगता से। तो असंगता साधन है "मैं" की वास्तविकता के बोध में। अब "मैं" का बोध किसके द्वारा होगा ? तो किसी करण की अपेक्षा से नहीं होगा, और न किसी आस्था से होगा। आस्था के आधार पर "मैं" का निर्णय करते हैं तो वह आपका बोध नहीं होता। यह और बात है कि विकल्प-रहित आस्था बोध जैसी मालूम पड़े। जिसे आप स्वीकार कर लेते हैं, वह आपकी स्वीकृति है, बोध नहीं है। तो प्रतीति के आधार पर और स्वीकृतियों के आधार पर "मैं" का बोध नहीं होता। "मैं क्या है ?"—इसका अनुभव नहीं है। किन्तु "प्रतीति और स्वीकृति" "मैं" नहीं है—यह अनुभव है। जब प्रतीति के साथ हमारा तादात्म्य नहीं रहता, और स्वीकृति में जब हमारी अहम्-बुद्धि नहीं रहती, तब निर्विकारता और विश्राम—ये आपको प्राप्त होते हैं। आप श्रम-रहित होते हैं और विकार-रहित होते हैं।

श्रम-रहित होने से, और विकार-रहित होने से जिस जीवन में प्रवेश होता है, अथवा जिस जीवन के साथ अभिन्नता होती है, वही वास्तविक जीवन है। आज हम उस जीवन से निराश हो गये हैं। और यह सोचने लगे हैं कि भला, हम साधारण मानव को उस जीवन की प्राप्ति कैसे हो सकती है ! आप विचार तो कीजिये, भूख किसी को लगी हो और भोजन किसी को मिले ? यह सम्भव है क्या ? आपको मानना ही

पड़ेगा कि जिसको भूख लगती है, वही भोजन करता है। अतः जिसमें आवश्यकता है, उसी की मांग पूरी होती है। आवश्यकता तो हो हम में, और मांग पूरी किसी और की हो ? ऐसा विधान नहीं हो सकता।

इस कारण हम-सबको अपने में-से यह भ्रमात्मक धारणा सदा के लिये निकाल देना चाहिये कि वह जीवन जो प्रतीति व स्वीकृति से परे है, हमें नहीं मिल सकता। अवश्य मिल सकता है। कैसे ? निर्विकारता और विश्राम से। यह निर्विकारता और विश्राम साधन हुआ, साध्य नहीं हुआ। यदि कोई कहे निर्विकारता ही जीवन है, विश्राम ही जीवन है—ऐसा नहीं। यह निर्विकारता और विश्राम उस जीवन का साधन है, जीवन नहीं है। क्यों ? यदि आप निर्विकारता और विश्राम को ही जीवन मान लेंगे, तो पर-प्रकाश्य वस्तुओं में बताइये, कहाँ विकार है ? कहाँ श्रम है ? एक पत्थर के टुकड़े को कहाँ मालूम होता है कि मैं श्रमित हूँ ? कहाँ अनुभव होता है कि उसमें कोई विकार है ? तो निर्विकारता और विश्राम जीवन नहीं है।

निर्विकारता और विश्राम से जीवन की अभिव्यक्ति होती है। तो अपना प्रयास कहाँ तक चला ? जहाँ तक निर्विकारता और विश्राम प्राप्त नहीं हैं। अब आप सोचिये कि निर्विकारता प्राप्त करने के लिये निर्ममता, निष्कामता और असंगता के सिवाय और कोई भी उपाय मालूम नहीं होता। आप इस बात को एक बार सुनकर मान लें, अनेक बार सुनकर मान लें। किन्तु यदि जीवन में निर्विकारता की माँग है, तो

निर्ममता, निष्कामता और असंगता प्राप्त करनी ही होगी। और इनमें से किसी भी एक की प्राप्ति से—जैसे यदि आपने निर्ममता प्राप्त कर ली, तो निष्कामता की शक्ति आयेगी, निष्कामता प्राप्त कर ली, तो असंगता की शक्ति आयेगी। परन्तु जिस समय निर्ममता आपको प्राप्त हो, उस समय "मैं निर्मम हो गया"—अगर ऐसा आपने गुणों का आरोप कर लिया अपने में, तो निष्काम होना कठिन हो जायगा। कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायेगा।

तो निर्ममता अपनाना है, किन्तु "मैं निर्मम हूँ"—इस प्रकार अपने में आरोप नहीं करना है। ऐसे ही निष्काम होना है, पर 'मैं निष्काम हूँ"—ऐसा आरोप नहीं करना है। इतना ही नहीं, निर्ममता-जनित जो निर्विकारता है और निष्कामता से उदित जो शान्ति है, उसमें भी रमण नहीं करेंगे, तब असंगता प्राप्त होगी। असंगता का मतलब क्या है ? किसी गुण और दोष के आश्रित जो हम अपने को जीवित रखते हैं, यही असंगता में बाधक है। तो दोषों की तो उत्पत्ति न हो, और गुणों का भोग न हो। देखिये, भोग का अर्थ क्या है ? पराश्रय द्वारा अपने को सन्तुष्ट करने का प्रयास। इसी का नाम भोग है। जब हम पराश्रय से अपने को सन्तुष्ट नहीं करते हैं, तब भोग का नाश होता है और योग की प्राप्ति होती है।

योग हमें पराधीनता से स्वाधीनता की ओर अग्रसर करता है। और भोग हमें स्वाधीनता से पराधीनता की ओर ले जाता है। किसी अन्य के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है—यह जो भ्रान्ति है, यह जो प्रलोभन है, इसी का परिणाम

है—योग से विमुख होना। तोक्‍ या हमारे द्वारा किसी को कुछ मिल सकता है? इस सम्बन्ध में जब आप विचार करेंगे तो आपको यह विदित होगा कि जब हम मिले हुए को अपना नहीं मानते, उस पर अधिकार नहीं रखते, उसका दुरुपयोग नहीं करते, तब उस मिले हुये के द्वारा विश्व की सेवा होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि आप विश्व को कोई ऐसी वस्तु देते हैं जो आपकी है। यह इसका अर्थ नहीं है। सेवा का अर्थ यह कभी नहीं होता कि हम जिसकी सेवा करते हैं, उसे कुछ देते हैं।

सेवा का अर्थ ही इतना है कि उसकी धरोहर जो अपने पास है, वह उसे भेंट करते हैं। यानी जिसकी जो वस्तु है, उसी को उसे दे देना—इसका नाम सेवा है। आप अपनी ओर से कुछ नहीं देते। क्यों? जो मिला है, उसी से न! सेवा करते हैं। तो जब मिले हुये के द्वारा सेवा होती है, तो फिर आपने अपना क्या दिया? जब तक आपको यह मालूम हो कि हम अपनी वस्तु के द्वारा, अपनी योग्यता के द्वारा, अपनी सामर्थ्य के द्वारा सेवा करते हैं, तब तक तो यह समझना चाहिये कि सेवा का आरम्भ ही नहीं हुआ है। आप विचार करें। आपकी अपनी वस्तु है क्या? यदि आपकी वस्तु होती, तो आपके लिये उपयोगी होती।

तो जब मिली हुई वस्तु आपके लिये उपयोगी नहीं है, तब आप कैसे कह सकते हैं कि वस्तु आपकी है? हां आपको मिली है। किसने दी है, उसे आप भले ही न जानते हों, पर यह तो आप जानते ही हैं कि मिली हुई वस्तु आपकी नहीं है।

किसी ने मान लिया कि प्रभु ने दी है। किसी ने मान लिया कि शायद वैसे ही अनायास मिल गई है। किसी ने मान लिया कि मालूम होता है कि हमारे पास कुछ है। पर है नहीं। कोई भी दृष्टिकोण हो, परन्तु यह तो सभी दृष्टियों से सिद्ध है कि जो मिला है, वह आपका तो नहीं है। और उसी के द्वारा आप सेवा करते हैं। किन्तु यदि आपके जीवन में पर-पीड़ा नहीं है, तो आप सेवा नहीं कर सकते।

सेवा करने के लिये पर-पीड़ा को अपनाना अनिवार्य होता है। आप कहेंगे कि हम अपनी ही पीड़ा से पीड़ित हैं, हमें कहाँ अवसर मिलता है कि हम पर-पीड़ा को अपनायें! आप अपनी पीड़ा से तभी तक पीड़ित हैं, जब तक आप पर-पीड़ा को नहीं अपनाते। यह नियम है कि जो पराये-दुःख से दुःखी नहीं होता, उसे अपने दुःख से दुःखी होना ही पड़ता है। तो यदि आप अपने दुःख से बचना चाहते हैं तो उसका बाह्य उपाय है—पर-पीड़ा को अपनाना। अर्थात् हमें दूसरों का दुःख अपना दुःख मालूम हो। ऐसा आप कहें कि यह कैसे सम्भव होता है? भाई, जिनको आप अपना मानते हैं, उनके दुःख से आप दुःखी होते हैं कि नहीं?

अगर किसी की गाड़ी फँस गई हो, तो फंस रही है गाड़ी और दुःखी है वह स्वयं। क्यों? यह ममता का प्रभाव है। ममता जिसके प्रति होती है, उसके दुःख से दुःखी कर देती है। जब ममता का यह प्रभाव है, तब सर्वात्म-भाव का कितना प्रभाव होगा! आज हम सभी को अपना नहीं मानते हैं, उसका यह परिणाम है कि सेवा करना हमारे लिये कठिन सा हो गया

है। भार-सा हो गया है। इतना ही नहीं, असम्भव-सा हो गया है। आप कहें कि अपना बिना माने भी हम सेवा तो करते ही हैं। जैसे कोई खेत में दाना बोये, तो खेत की सेवा करता है या कि खेत से सेवा लेता है ? अगर आप विचार करेंगे, तो आपको मानना पड़ेगा कि खेत से सेवा लेते हैं, खेत की सेवा करते नहीं हैं। उसी प्रकार जब आप किसी वस्तु को अपना मानकर किसी की सेवा करते हैं, और आप इस बात को जानते हैं कि दूसरों को दिया हुआ, कई गुना अधिक होकर मिलता है। तो यह सेवा करना है, कि व्यापार करना है ? आप विचार कीजिये।

सेवा तो तब न ! होगी, जब आप इस बात को स्वीकार करें कि जिन वस्तुओं के द्वारा हम सेवा कर रहे हैं, और जिनकी सेवा कर रहे हैं, या तो वे वस्तुयें उन्हीं की हैं, अथवा वे अपने ही हैं। तो अपने हाथ से अपना मुँह धोने पर किसी को सेवा थोड़े ही मालूम होती है ! सेवा में भिन्नता वास्तव में नहीं है। सेवा में अपना करके अपना कुछ नहीं है। तब तो सेवा बनती है, नहीं तो नहीं बनती। और जब तक आप सेवा नहीं करते, तब तक न तो आप परिवार के लिये उपयोगी होते हैं, और न संसार के लिये उपयोगी होते हैं। परिवार के लिये भी जीवन तभी उपयोगी होता है, जब आप परिवार की सेवा करें। और कहीं परिवार से सुख की आशा करें ? तब ? तो हम विना ही जंजीरों के ऐसी मजबूती से बँध जाते हैं कि सुख भी नहीं मिलता, और क्षोभ-क्रोध और भोगना पड़ता है।

इसलिये सेवा का क्रियात्मक रूप कितना ही अल्प हो, अथवा अधिक हो, उसमें कोई अन्तर नहीं है, फल में कोई अन्तर नहीं है। बहुत-से लोग सोचते होंगे कि बड़ी-बड़ी सेवा करने से बड़ा-बड़ा फल मिलता होगा और छोटी-छोटी सेवा करने से छोटा-छोटा फल बनता होगा। सो नहीं होता। कर्म का यह विधान है कि जिस सीमा का कर्म होगा, उस सीमा का फल बनेगा। किन्तु सेवा का यह विधान नहीं है। सेवा अल्प हो अथवा अधिक हो, उसका फल क्या है ? सेवा का फल ही है—निर्विकार हो जाना, निष्काम हो जाना, स्वाधीन हो जाना, प्रियता की जागृति हो जाना। यह सेवा का फल है। और यही त्याग का भी फल है।

देखिए, जो चीज सेवा से मिलती है, वही चीज त्याग से मिलती है। और यही आत्मीयता का भी फल है। तीनों के फल में कोई भेद नहीं है। चाहे आप सेवा करें, चाहे आप त्याग अपनायें, चाहे आप आत्मीयता स्वीकार करें। आत्मीयता से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। त्याग से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। सेवा से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। आपको जो मिलने वाली चीज है, वह है—प्रेम। आप प्रेम से अभिन्न होंगे। अब आप सोचिये कि यदि आपको प्रेम की प्राप्ति हो गई, अर्थात् आपके जीवन में प्रेम की अभिव्यक्ति हो गई, प्रेम से भिन्न आपका कोई अस्तित्व नहीं रहा, तो फिर वह चाहे जिसके प्रति हो, उसके लिये भी रस-रूप होगा, आपके लिये भी रस-रूप होगा।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि आपको प्रेम की प्राप्ति करना है। यह बात आप अपने सामने रखें कि हमको तो प्रेम

प्राप्त होना है, और कोई वस्तु हमको मिल नहीं सकती। क्यों ? जब कोई आपके काम आता है, तब आपके जीवन में उसका महत्व होता है, जो आपके काम आता है। आपका अपना महत्व क्या रह जाता है ? आपका अपना मूल्य क्या रह जाता है ? आप विचार तो करें।

२५

ब
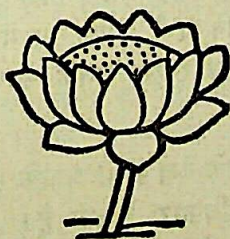
बहुत गम्भीरता से विचार करें। अगर किसी को आज्ञाकारी पुत्र मिल गया, मधुर-भाषिणी सेवा परायण पत्नी मिल गई, और अच्छे-अच्छे सम्बन्धी मिल गये, तो उनके मिलने से, आप बताइये, आपको क्या मिला ? केवल यही मिला कि आप निरन्तर उन्हीं के चिन्तन में आबद्ध हो जायेंगे। आप अपने जीवन में अनुभव करके देख लीजिये। जो आपके काम आता है; उसके चिन्तन में आप आबद्ध होते हैं। इतना ही नहीं, यहाँ जो लोग आये हैं, और जिनके साथ अमुक भाई ने बहुत अच्छा व्यवहार किया है, उनके मन में क्या बात उठेगी ? ये हमारे यहाँ आयें, और हम उनके साथ अच्छा व्यवहार करें।

आप अनुभव करके देखें। जो आपके साथ भलाई करता है, वही आप पर अधिकार करता है। यानी आप विवश होते हैं उसके आधीन होने को। किन्तु यदि आपके जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाय, तो आप ही बताइये, प्रेमी कभी पराधीन रहता है क्या ? प्रेमी के जीवन में कभी भिन्नता आती है क्या ? प्रेमी के जीवन में कभी गैरियत आती है क्या ? प्रेमी

के जीवन कभी निरसता आती है क्या ? तो वह प्रेम तभी आपको प्राप्त होगा कि जब आप की हुई सेवा के द्वारा अपने को स्वाधीन बनायें, शान्त बनायें, निर्विकार बनायें। अगर आप शान्त नहीं हैं, स्वाधीन नहीं हैं, निर्विकार नहीं हैं तो प्रेम का प्रादुर्भाव सम्भव ही नहीं है।

आप सोचते होंगे कि किसी श्रम-साध्य साधन से प्रेम की प्राप्ति होती है। श्रम करने से 'करने' में आसक्ति होती है। करने की आसक्ति का नाम प्रेम नहीं है। करने की आसक्ति शरीर से तादात्म्य जोड़ देती है, शरीर में आबद्ध कर देती है। शरीर का न रहना आपके लिये असह्य दुःख बन जाता है। और यह तो आप जानते ही हैं कि शरीर रहेगा ही नहीं। तो 'करने' से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। प्रेम की प्राप्ति तो एक-मात्र त्याग से होती है, सेवा से होती है, आत्मीयता से होती है। और सेवा, त्याग तथा आत्मीयता में आप सदैव स्वाधीन हैं। आप सभी को अपना मान सकते हैं, प्रभु को अपना मान सकते हैं। आप निर्मम और निष्काम हो सकते हैं।

आप मिली हुई वस्तु को समर्पित कर सकते हैं। आप विचार करके देखें। जिसके करने में आप सदैव स्वाधीन हैं, और जिसके करने से 'करने' का अन्त होता है—यह बड़े रहस्य की बात है -जो करना 'करने' में ही बदलता रहे, वह करना निरर्थक है। और जिस 'करने' का अन्त हो जाय ! अच्छा भाई, त्याग एक बार करना पड़ेगा कि अनेक बार ? क्या विचार है आपका ? एक बार त्याग करने से 'करने' का अन्त हुआ कि नहीं ? अच्छा, जो कुछ प्राप्त है, उसका समर्पण एक बार

करना पड़ेगा कि अनेक बार ? तो सेवा से 'करने' का अन्त हो गया न !

ऐसे ही जिसमें आपने आत्मीयता स्वीकार की, जिसको आपने अपना स्वीकार किया, यह एक बार स्वीकार करना पड़ेगा कि अनेक बार ? इससे क्या सिद्ध हुआ? करना वही सार्थक है जिससे 'करने' का अन्त हो। अच्छा भाई, सुख की आशा को लेकर की हुई प्रवृत्ति कभी नाश होती है क्या ? कि नवीन प्रवृत्ति को जन्म देती है ? आप विचार करके देखें। तो जो लोग यह सोचते हैं कि हम जो कुछ करते हैं, उसका कभी अन्त ही न हो, करना 'करने' में ही बदलता रहे। यह तो दशा आप देखते हैं कि सभी को सदैव प्राप्त है—बोलते हैं, बोलने का राग रखते हुये, पुनः बोलते हैं, सुनने का राग रखते हुए पुनः फिर सुनते हैं।

जो कुछ आप करते हैं, 'करने' का राग रहने से पुनः करते हैं। तो जो करना 'करने' में ही बदलता रहता है, वह करना कर्तव्य नहीं है। जो करना सदा के लिये समाप्त होता है; और उसके परिणाम में आपको परम शान्ति, स्वाधीनता, और प्रेम की प्राप्ति होती है, वही कर्त्तव्य है। तो सदैव रहने वाली चीज शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम है कि कोई श्रम-साध्य साधन है ? आपको मानना पड़ेगा कि शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम ही आपका जीवन है। इसी से आपकी एकता है। और इसको मानव-सेवा-संघ की भाषा में 'साधन-तत्व' बताया। और मानव को "साधक" बताया।

साधन-तत्त्व का अर्थ है कि जिसमें समस्त साधन विलीन हो जायें। यानी भिन्न-भिन्न साधन जब एक में विलीन हो जाते हैं, उसको कहते हैं—साधन-तत्व। तो समस्त साधन किसमें विलीन होते हैं? तो मानना पड़ता है कि प्रेम की प्राप्ति में, प्रेम की जागृति में। तो 'प्रेम' हुआ साधन-तत्व। और वह किसको प्राप्त हुआ? साधक को। आप हैं साधक। कैसे प्राप्त हुआ? तो मानना पड़ता है कि सेवा से, त्याग से, आत्मीयता से। यदि आप सेवा-त्याग, और आत्मीयता को अपना लेते हैं, तो आपको साधन-तत्व की प्राप्ति अवश्य होगी। वही साधन-तत्व आप जानते हैं क्या है? राधा-तत्व है, सीता-तत्व है, गौरी-तत्व है। ये साधन-तत्व के ही रूप हैं। वर्णन में भेद है, किन्तु वास्तविकता में कोई भेद नहीं है।

:

आप सोचिये, किसी से पूछिये कि राधा क्या हैं? बोले—कृष्ण की अनन्य प्रियता। श्रीकृष्ण जिनको अत्यन्त प्यारे हैं। अथवा यों कहो कि श्री कृष्ण का प्रेम ही मूर्तिमान राधा हैं। और बताइये, राधा क्या हैं? यही अर्थ सीता में लगेगा। यही अर्थ गौरी में लगेगा। यही अर्थ आप जानते हैं? गुरु-तत्व में भी लगेगा। जैसे सन्तमत में गुरु की महिमा गाई जाती है। गुरु के प्राप्त करने की बात कही जाती है। यानी गुरु-तत्व से अभिन्नता होती है। और वह गुरु-तत्व क्या है? साध्य की अगाध प्रियता। साध्य की प्रियता ही तो सिद्धि है। तो हमारा साध्य हमें प्यारा लगे, तो आप क्या हुये? आप प्रेम हुये कि साध्य हुये? क्या विचार है आपका? प्रेम हुये।

तो प्रेम की आपको प्राप्ति होगी या किसी अन्य की प्राप्ति होगी ? इसका अर्थ यह न लगा लीजिये कि साध्य और प्रेम एक वस्तु है। ऐसा भी लोगों ने कह दिया। पर, बात ऐसी नहीं है। वह प्रेम साध्य का ही स्वभाव है। यह बात तो आप कह सकते हैं। और यह भी कह सकते हैं कि प्रेम दूरी, भेद और भिन्नता का नाशक है। जब दूरी नहीं रही, तो योग प्राप्त हो गया। जब भेद नहीं रहा, तो बोध प्राप्त हो गया, और जब भिन्नता नहीं रही, तो अगाध प्रियता प्राप्त हो गई। तो अगाध प्रियता कहो, अथवा बोध कहो, अथवा योग कहो— ये प्रेम की विभूति हुई न ! यानी ये प्रेम का ही रूपान्तर हुआ न !

आप कहेंगे कि फिर योग, बोध, और प्रेम जब एक ही हैं, तो उसको प्रेम ही क्यों न ! कहा जाय। यह तो आपकी अपनी रुचि की बात है। चाहे प्रेम कहो, चाहे योग कहो, चाहे बोध कहो। आप विचार कीजिये, कि योग में दूरी है क्या ? भेद रहता है क्या ? भिन्नता रहती है क्या ? आप लोगों में से बहुतों ने प्रयाग त्रिवेणी में स्नान किया होगा। प्रयाग में जब गंगा और यमुना का योग होता है, तो आगे चलकर नाम गंगा का और रूप यमुना का। आप देख लेना जाकर। भेद रहा क्या ? अब योग और बोध में कोई अन्तर हुआ क्या ? आप यह भी देखेंगे कि योग होने पर भी गंगा यमुना से, यमुना गंगा से मिलने के लिये सदैव आतुर है, गतिशील है। इसी का नाम प्रेम है। बोध में योग और प्रेम है और प्रेम में योग और बोध है। इसी का नाम सिद्धि है। इसी का नाम सफलता है।

जब तक आपको यह मालूम हो कि योग अलग चीज है, बोध अलग चीज है, प्रेम अलग चीज है, तब तक मानना पड़ेगा कि वह साधन-रूप योग है, साधन-रूप बोध है, और साधन-रूप प्रेम है। किन्तु जिस समय साध्य-रूप योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है, तब इनमें विभाजन नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी रस में एक भेद है। योग का रस शान्ति-रस है। बोध का रस शान्ति के साथ-साथ अखण्ड है, और प्रेम का रस अखन्ड के साथ-साथ अनन्त है। जैसे आप देखेंगे; जहां संगम होता है, वहां कोई किसी प्रकार का भेद नहीं है। जल-जल है दोनों। देखिये, जातीय एकता भी है, स्वरूप की एकता भी है। फिर भी नित-नव गति है कि नहीं।

इसी चीज को दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से वर्णन किया है। चीज कोई अलग नहीं है। चीज एक ही है। किसी ने कह दिया—हमें तो वास्तविकता का बोध हो गया, हम कृत-कृत्य हो गये। उनसे पूछा जाय कि उस बोध में तुम्हारी प्रियता है कि नहीं ? तो कहना पड़ेगा—है। क्यों ? यदि बोध में प्रियता न हो, तो आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। आनन्द की अभिव्यक्ति में मूल हेतु प्रियता है। किसी ने कह दिया कि हमें प्रेमास्पद की प्राप्ति हो गई। भला, बताओ तो सही, जिस प्रेमास्पद की आपको प्राप्ति हो गई, उसका आपको बोध है कि नहीं ? तो मानना पड़ेगा—है। तो प्रियता में बोध, बोध में प्रियता, मिलन में बोध, मिलन में प्रियता है।

किन्तु प्रियता एक ऐसा अलौकिक तत्व है कि इसकी कभी पूर्ति नहीं होती, और पूर्ति न होने से ही अनन्त है, असीम

है। इसकी कोई सीमा नहीं है। इसका कभी अन्त नहीं है, और नित-नव रस की अभिव्यक्ति है। यह प्रियता का सहज स्वभाव है। देखिए, आपकी प्रियता किसमें है—यह प्रश्न ही नहीं है। चाहे जिसमें हो। किन्तु प्रियता का मूल्य समान ही है। आप विचार करें, कि आप किसी से कहें कि हम आपसे प्रेम करते हैं, किन्तु हमारे पास जो कुछ है, वह तो हमारा है, तुम्हारा नहीं है। तो वह क्या कहेगा ? भाई, प्रेम करते कि धोखा देते हो ?

तात्पर्य क्या निकला ? कि जिसके आप प्रेमी हैं, उसको अपना सब-कुछ देना पड़ता है। और किसी से आप कहें कि हम आपको प्रेम तो करते हैं, पर हमारी यह बात पूरी कर दो। तो वह क्या कहेगा ? प्रेम करते हो कि मेरा भोग करते हो ? प्रेम में काम नहीं है। प्रेम में अपने पास अपना करके कुछ नहीं है। उसी को न ! प्रेम की प्राप्ति होती है। अब आप बताइये कि प्रेम का मूल्य क्या हुआ ? यानी यह जो आप सोचते हैं कि हमारा प्रेमास्पद सुन्दर होगा, तब हम प्रेम करेंगे। तो इसके भीतर क्या ध्वनि निकलती है ? कि आप प्रेम के बहाने प्रेमास्पद का भोग करना चाहते हैं। तभी न ! आप कहते हैं कि वे कैसे हैं।

जरा विचार तो कीजिये। यह जो लोगों का भ्रम है कि प्रभु कैसे हैं ? काम के हैं कि बेकाम के हैं ? तब हम उनसे प्रेम करेंगे। तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप अपने सुख के लिये कुछ आशा रखते हैं। तब सोचते हैं कि वे कैसे हैं। यदि आप प्रेमी हैं, तो कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कैसे हैं। और

कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कहां हैं ! कहां यह प्रश्न आता है कि वे क्या करते हैं ! चाहे जैसे हों, चाहे जहां हों, चाहे कुछ करें, अपने हैं और प्रिय हैं। यह है प्रेम की दीक्षा। अगर आप यह सोचते हैं कि हम देखेंगे, अच्छे लगते हैं कि नहीं। तो यह बात तो भोगी के जीवन की है, प्रेमी के जीवन की बात नहीं है।

तो क्या इसका अर्थ यह है कि प्रेमास्पद सुन्दर नहीं हैं ? इसका अर्थ यह नहीं है कि सुन्दर नहीं हैं। क्यों ? प्रेमी को तो प्रेमास्पद में नित नव सुन्दरता का भास ही होता रहता है। नित-नव सुन्दरता का भास होता है—इसका अर्थ यह नहीं है कि वह इसलिये प्रेमी है कि वे सुन्दर हैं। इसका अर्थ यह है कि वह प्रेमी है, इसलिये प्रेमास्पद सुन्दर है। यह एक बड़ा रहस्य रहता है। यह जो प्रेमास्पद के वर्णन में प्रेमियों ने बड़ी-बड़ी महिमायें गाईं, और साधारण प्रेमी होने से पहले उस महिमा के कारण आकर्षित हुये। और अगर कल्पना करो कि कहीं सुने हुये के अनुसार महिमा न निकली, तो ? तो आप प्रेमी रहेंगे ? आप प्रेमी नहीं हो सकते।

मेरा निवेदन यह था कि प्रेमी होने के लिये इस बात की आवश्यकता नहीं कि आप यह जानें कि हमारे प्रियतम कैसे हैं। इस बात की आवश्यकता नहीं है। क्यों ? अगर कैसे हैं—यह सोचकर आप प्रेमी होना चाहते हैं, तो प्रेमी नहीं हो सकते। क्यो ? प्रेमी क्यों नहीं हो सकते ? कि यह बात तो आप तब सोचेंगे, जब आपको प्रेमास्पद से कुछ लेना हो। जब हमें किसी से लेना हाता है, तब हम सोचते हैं कि वे कैसे हैं।

और जब तक आपको कुछ लेना है, तब तक प्रेमियों की सूची में नाम लिखा जायेगा क्या ? जब तक आपको भोग चाहिये, मोक्ष चाहिये, जब तक आपको कुछ चाहिये, तब तक आप कैसे कह सकते हैं कि प्रेमियों की सूची में हमारा नाम लिखा जा सकता है ? नहीं लिखा जा सकता।

जिसे कुछ नहीं चाहिये—एक बात। और जिसको अपने पास अपना करके कुछ नहीं रखना है—दो बात। और मिलन में भी और वियोग में भी जिसके जीवन में नित-नव प्रियता है। यह नहीं कि मिलन-काल में तो प्रेम है, और वियोग में प्रेम नहीं है, या वियोग-काल में तो प्रेम है, और मिलन-काल में नहीं है। प्रेमी के जीवन पर जब आप विचार करेंगे, तो आपको ऐसा मानना ही पड़ेगा कि प्रेमी के लिये मिलन और वियोग का कुछ अर्थ ही नहीं रहता है।

इस सम्बन्ध में किसी प्रेमिका की बात है। एक कोई प्रेमिका थी। उसका जो प्रेमास्पद था, वह कहीं बाहर चला गया था। वह उसके वियोग में मरणासन्न हो गई। उसकी एक चतुर सखी थी। उसने कहा कि अरी बहन ! वे तो अभी तक नहीं आये, और तेरे जीवन की अन्तिम घड़ियाँ आ गईं, अन्त मति सो गति, अब तेरी अन्तिम घड़ियाँ हैं, तो अब अन्त के समय पर उस जगदीश्वर, जगदाधार का ध्यान कर ! वह कहने लगी, "अच्छा ! वे नहीं आये ! अब ये प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे ! अच्छा बहन, मैं जगदीश्वर से प्रार्थना करती हूँ।" अब उसकी प्रार्थना सुनिये।

वह कहती है—"हे जगदीश्वर ! हे जगदाधार !! इस शरीर में जो पृथ्वी-तत्व है, वह उसी भूमि में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरे प्राणनाथ विचरते हैं। हे जगदीश्वर ! हे जगदाधार !! इस शरीर में जो जल-तत्व है, वह उस जल में जाकर मिल जाय, जो जल मेरे प्रियतम की सेवा में काम आता है। इस शरीर में जो अग्नि-तत्व है, उस दीपक की ज्योति में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरा प्रियतम रहता है। हे जगदीश्वर ! इस शरीर में जो वायु-तत्व है, वह उसी वायु में जाकर मिल जाय, जो वायु मेरे प्रीतम पर झली जाती है। इस शरीर में जो आकाश-तत्व है, वह उसी आकाश में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरे प्रीतम का नित्यवास है।"

क्या माँगा उसने ? विचार तो कीजिये। "मेरे पास जो कुछ है, उनका है, उनके लिए है। और वे न आयें, तब भी मेरे हैं। और मेरे होने से ही मुझको प्यारे हैं।" अब आप देखिये—निर्ममता आ गई, निष्कामता आ गई, आत्मीयता आ गई। प्रीतम भी आ गया। प्रीतम ने कहा—अरी सखी ! हमने तो सुना था कि यह तो मरी जा रही है। यह तो बड़ी हट्टी-कट्टी सी है। बोले, हे प्राणनाथ ! जिसके लिए मरी जा रही थी, जब वही आ गया, तब कैसे मरेगी ! किन्तु मरणासन्न हो गई। तो तू क्यों मरी जा रही है ? कि यों मरी जा रही हूँ कि हे प्यारे ! आप चले जायेंगे।

तो जब तक मिलन में वियोग न भासे, तो प्रेम कैसा ! और वियोग में मिलन न भासे, तो प्रेम कैसा ? प्रेम ही तो एक ऐसा तत्व है, जो मिलन में वियोग, और वियोग में मिलन का दर्शन कराता है। इसीलिये तो उसकी पूर्ति नहीं होती।

यदि मिलन में वियोग का भास न रहता तो प्रेम पूरा हो जाता। और वियोग में मिलन न होता, तो प्रेम नाश हो जाता। तो प्रेम नाश भी नहीं होता, प्रेम पूरा भी नहीं होता। क्यों? वहां मिलन और वियोग समान हो हैं। तो जहां मिलन और वियोग समान हैं, आप सोचिये, वहां नित-नव प्रियता व नित नव रस से भिन्न क्या हो सकता है!

इसीलिये प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। अब वह प्रेम आप किसके साथ करेंगे? जब यह प्रश्न आपके सामने आये कि आप किसके साथ करेंगे? बोले, जो हमें जानता है, जिसे हम नहीं जानते। हम जिसे जानते हैं, वह प्रेम से सन्तुष्ट नहीं होता। उसको वस्तु चाहिये, उसको सामर्थ्य चाहिये, उसे प्रेम नहीं चाहिये। तो सच पूछिये, प्रेम उसकी भूख है, जो हमें जानता है, पर जिसे हम नहीं जानते। और सेवा किसकी मांग है? जिसे हम जानते हैं। जिसे हम जानते हैं, उसकी आप सेवा कर सकते हैं। किसके नाते? जो आपका प्रेमास्पद है।

प्रेमास्पद के नाते की हुई सेवा प्रेम से अभिन्न करती है। क्यों? वह जो करने की रुचि है, करने की जो सामर्थ्य है, वह सेवा द्वारा प्रीति में परिणत हो जाती है, प्रेम में बदल जाती है। इस दृष्टि से सेवा प्रीति में, प्रीति सेवा में ओत-प्रोत है। यदि प्रेम की प्राप्ति हो गई, तो उसका क्रियात्मक रूप सेवा है। और जो सेवा की प्राप्ति हो गई, तो उसकी परावधि प्रेम है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन की पूर्णता एक-मात्र प्रेम की अभिव्यक्ति में है। और प्रेम की प्राप्ति में कोई

परिस्थिति हेतु नहीं है, कोई अवस्था हेतु नहीं है, कोई योग्यता हेतु नहीं है। प्रेम की प्राप्ति में एकमात्र जिसे कुछ नहीं चाहिये, जिसका अपना कुछ नहीं है, जिसका कोई अपना है। यानी जो बेसामान का है और जिसे कुछ नहीं चाहिये, उस पर भी उसने स्वीकार किया कि आप मेरे हैं।

आप विचार तो कीजिये, निष्काम हुये बिना, निर्मम हुये बिना, क्या हम किसी को अपना कह पायेंगे ? नहीं कह पाते। आप कहते हैं कि अपनी सन्तान को अपना कहते है। तो जरा विचार कीजिये, जब आपकी सन्तान आपके मन के विरुद्ध कोई काम करती है, तब आप उसका मुँह भी नहीं देखना चाहते। यही आपका अपना कहना है ? विचार कीजिये। आप किसी को अपना कह नहीं सकते, जब तक आप कुछ भी चाहते हैं। देखिये, आप किसी के भी प्रेमी हो जाते हैं, तो सभी के प्रेमी हो जाते हैं। जो किसी का प्रेमी होता है, वह सभी का प्रेमी होता है।

एक बार ऐसी ही बात चल रही थी जे० कृष्णमूर्ति जी की किसी साथ। जे० कृष्णामूर्ति ने पूछा—तुम किससे प्रेम करते हो ? तो उसने कह दिया कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम करता हूं। उन्होंने तुरन्त कहा—यदि तुम्हारी पत्नी किसी दूसरे से प्रेम करे, तो तुम उसे प्रेम करोगे ? बोले—नहीं। तो प्रेम करते हो कि शासन करते हो ? तो आप बाप बनकर बेटे पर शासन करते हैं; पति बनकर पत्नी पर शासन करते हैं, मित्र बनकर मित्र पर शासन करते हैं, व्यक्ति बनकर समाज पर शासन करते हैं। और कहते हैं कि हम प्रेम करते हैं। भैया,

जिसे प्रेम करना आ जायेगा, उसको फिर कुछ करना ही शेष नहीं रह जायेगा।

किन्तु एक बात अवश्य है कि जब तक आप प्रेमी नहीं होते, तब तक आपके जीवन में जो नीरसता है, जो अभाव है, जो क्षोभ है, जो क्रोध है, वह नाश नहीं हो सकता। इसलिये मानव-जीवन की पूर्णता प्रेम की प्राप्ति में है। और प्रेम की प्राप्ति का उपाय—मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, आप मेरे हैं, आप चाहे जैसे हों, चाहे जहां हों, और चाहे कुछ करो, यह नहीं, कि जो मैं चाहूं, सो करो। तुम चाहे कुछ करो, चाहे जहां रहो, और चाहे जैसे हो, पर अपने होने से अत्यन्त प्रिय हो। यही प्रेमी का जीवन है।

२६
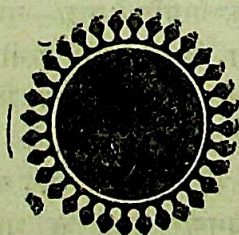
जाने हुये का आदर, प्राप्त का सदुपयोग एवं सुने हुए परमात्मा की आस्था—साधनयुक्त जीवन का मूल आधार है।

जो करना चाहिये वह समष्टि शक्तियों से सम्पादित होता है। और जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति अपनी भूल से होती है।

समष्टि शक्तियों से सम्पादित हुई प्रवृत्ति में कर्त्तापन का दोष नहीं आने देना चाहिये। और की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेने से अकर्तव्य का अन्त हो जाता है।

अनन्त की प्रियता से ही अनन्त को रस मिलता है। उन्हीं के दिये हुये रस से हम उन्हीं को प्रियता प्रदान करते हैं। यह सामर्थ्य भी उन्हीं की दी हुई है।

जिज्ञासा का क्षेत्र "यह" और "मैं" है। विश्वास का क्षेत्र प्रभु हैं।

जो नित्य प्राप्त है उसी की प्राप्ति होती है। जो अप्राप्त है उसकी प्राप्ति कभी नहीं होती।

(अ) शान्ति नित्य प्राप्त है।

(ब) स्वाधीनता नित्य प्राप्त है।

(स) त्याग और प्रेम नित्य प्राप्त है।

(द) प्रभु नित्य प्राप्त हैं। अतः उन्हीं की प्राप्ति अनिवार्य है।

———

२६

अ

प्रवचन :

यदि हम अपने निर्माण कर्त्ता की महिमा में आस्था कर लें, श्रद्धा कर लें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्बल से निर्बल प्राणी भी वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकते हैं। यह निर्विवाद सत्य है। अब रही बात यह कि या तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करें, अथवा असमर्थता से पीड़ित हों। दो प्रकार के साधक होते हैं—एक समर्थ साधक होते हैं, एक असमर्थ साधक होते हैं। समर्थ साधक प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करते हैं। और असमर्थ साधक अपनी असमर्थता से पीड़ित होते हैं। असमर्थता का अर्थ सामर्थ्य का अभाव नहीं है। अपितु, प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाते, कर सकते हैं, और नहीं करते। क्यों नहीं करते ? इसका कारण तो केवल यही मालूम होता है कि हम भूल-जनित सुख-लोलुपता में आबद्ध हो जाते हैं। अथवा वास्तविकता से निराश हो जाते हैं। ऐसा मान बैठते हैं कि हम साधारण प्राणियों को भला, कैसे योग की, बोध की, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है ! यह अपनी बनाई हुई भूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार वर्तमान की आवश्यकता ही भविष्य की उपलब्धि होती है। जो मांग है, उसकी पूर्ति

अनिवार्य है। परन्तु हम इस मंगलमय विधान का आदर नहीं करते; और निराश हो जाते हैं। अथवा ऐसा सोचिये कि जो करना चाहिये; उसमें ही अपना अधिकार नहीं मानते। सोचते हैं कि हमको कोई ऐसी बात भी करने को है, जिसे नहीं कर सकते, और फिर निराश होते हैं। पर ऐसी बात नहीं है। जो नहीं कर सकते, वह तो करना ही नहीं है। जो नहीं जानते, वह तो जानना ही नहीं है? इतना ही नहीं, यदि आप में आस्था नहीं है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं।

किन्तु विवेक-विरोधी आस्था कर लें—यह भूल की बात है। जिसको प्रभु-विश्वास नहीं है, उसको फिर किसी में विश्वास न हो। क्यों? जब आप सुने हुये प्रभू में विश्वास नहीं कर सकते, तो आप ही बताइये कि मिले हुये में और देखे हुये में कैसे विश्वास कर सकते हैं? मिले हुये का सदुपयोग कर सकते हैं। देखे हुये की खोज कर सकते हैं, पर विश्वास नहीं कर सकते। तात्पर्य क्या निकला? या तो हम प्रभू में विश्वास करें, अथवा किसी में विश्वास न करें। तो किसी में विश्वास न करने से भी वास्तविकता की प्राप्ति होती है। और प्रभू में विश्वास करने से भी वास्तविकता की प्राप्ति होती है। यदि कोई यह कहे कि हमारे जीवन में तो यह प्रश्न ही नहीं है कि हम विश्वास करें, अथवा न करें। तो सीधी-सादी बात है कि जो आपको मिला है, उसका सदुपयोग करें। मिले हुये के सदुपयोग से पर-हित स्वतः होता है।

जब हम मिले हुये का सदुपयोग नहीं करते हैं, तब दुरुपयोग करते हैं। बिना करे तो रह नहीं सकते। यह नियम

है कि जिसके पास कुछ भी है, वह कुछ-न-कुछ करता अवश्य है। अतः जो मिला है उसके कारण करने की सामर्थ्य है। अब आप उसका सदुपयोग करते हैं कि दुरुपयोग—यह तो आप स्वयं विचार करें। तो सारांश यह निकला कि यदि आप असमर्थ हैं तब भी साधक, जाने हुये का आदर करते हैं तब भी साधक, मिले हुये का सदुपयोग करते हैं तब भी साधक। और यदि कोई सदुपयोग करना चाहता है, आस्था करना चाहता है, जाने हुये का आदर करना चाहता है, पर कर नहीं पाता, किन्तु न करने का दुःख है, तब भी साधक।

तो क्या आज जो हम चाहते हैं, उसके न होने से दुःखी भी नहीं हो सकते ? अब कोई कहे कि हमारे बस की यह बात नहीं। तब तो मानना पड़ेगा कि हमने अपने को साधक ही स्वीकार नहीं किया—एक बात। दूसरी बात यह है कि जिसके बस की कोई बात नहीं है, उसने अपने अस्तित्व को कैसे मान लिया ? आप देखेंगे विचार से, तो आपको यह मालूम पड़ेगा कि कुछ-न-कुछ आप जरूर कर सकते हैं। कोई-न-कोई दायित्व आप पर जरूर है। तो जो कर सकते हैं, उसके करने का नाम ही तो कर्तव्य-परायणता है। और जो नहीं करना चाहिये, उसके करने का नाम ही अकर्तव्य है। असमर्थ से अकर्तव्य नहीं होता। सामर्थ्य के दुरुपयोग में अकर्तव्य है। जो कुछ नहीं जानता, उसमें अविवेक कभी नहीं आता। जाने हुये के अनादर का नाम अविवेक है। जो कुछ नहीं मानता, उसमें अश्रद्धा कभी नहीं होती। माने हुये में आस्था न करना—यह अश्रद्धा है।

तात्पर्य कहने का यह है कि यदि हम अपनी वर्तमान वस्तु स्थिति पर विचार करें, तो प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को यह मानना ही पड़ेगा कि हम कुछ-न-कुछ कर भी सकते हैं, और कुछ-न-कुछ जानते भी हैं, और किसी-न-किसी अंश में प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में आस्था भी है। देखना यह है कि आस्था किसमें है ? जानते क्या हैं ? और क्या कर सकते हैं ? जो आप जानते हैं, उसी में आपका हित है। जो कर सकते हैं, उसी से आपको सफलता होगी। किन्तु जानने, और करने में, और आस्था में परस्पर भेद नहीं होना चाहिये। अल्प जानते हैं, अल्प कर सकते हैं,—उसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जितना भी जानते हैं, जो भी कर सकते हैं—उसी में सिद्धि है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन में असफलता के लिये, हार मानने के लिये, निराश होने के लिये कोई स्थान ही नहीं है।

कुछ लोग सोचते हैं, क्या बतायें ! हम समय पर उठ नहीं पाते। ठीक है। जहां यह बताया कि अमुक समय पर उठो और शान्त रहो, वहां यह भी बताया है कि जब सो कर जगो, तब ही शान्त रहो। और जब आपके सारे कार्य समाप्त हो जायें, तब शान्त हो जाओ। कार्य के आदि में हो जाओ; कार्य के अन्त में हो जाओ। किन्तु कोई कहे कि नहीं, हम तो शान्त हो ही नहीं सकते। तो इसका अर्थ यह है कि हम शान्त होना ही नहीं चाहते। और जो बात आप चाहते ही नहीं हैं वह यदि नहीं होती है, तो यह क्यों सोचते हो कि हम कर नहीं सकते ?

प्रत्येक कार्य के आदि में, अन्त में, सोने से पहले, जगने के बाद प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन शान्त हो सकते हैं। यहां तक बताया कि अल्प से अल्प काल दस-बारह सेकिण्ड में भी। क्यों ? जब आप शान्त होते हैं, तब स्वतः किये हुये की स्मृति याद आती है। और जब किये की स्मृति आती है, तब आपको स्वयं अनुभव होता है कि हमने वह भी किया जो नहीं करना चाहिये और वह भी किया जो करना चाहिये। यह अनुभव प्रत्येक भाई को; प्रत्येक बहन को होता है। यदि आप अपने सम्मुख का आदर करें, तो जो नहीं करना चाहिये, उसको न करने का निर्णय कर लें, और जो कोई ऐसी बात की है, जो करना चाहिये, तो उसके फल में आसक्ति न रखें। क्यों ? जो करना चाहिये, वह समष्टि शक्तियों से सम्पादित होता है। और जो नहीं करना चाहिये, उसकी उत्पत्ति अपनी भूल से होती है।

तो जिसका सम्पादन समष्टि शक्तियों से हुआ है, उसके फल में आस्था रखना, अथवा उसकी आशा करना—यह तो एक ऐसी बात है, जैसे किसी दूसरे के किये हुये का फल भोगना। तो ईमानदारी यह नहीं है न ! और जो भूल से कर चुके हैं, उसका तो और कोई उपाय ही नहीं है, सिवाय इसके कि भाई, अब नहीं करेंगे। तो जो नहीं करना चाहिये, उसको नहीं करेंगे। और जो करना चाहिये; उसे करेंगे। करेंगे क्या ! वह

होगा। भाषा की दृष्टि से संकेत में यह कहना पड़ता है कि जो नहीं करना चाहिये, वह नहीं करेंगे; और जो करना चाहिये, वह करेंगे। यह एक भाषा है। वास्तव में जब हम वह नहीं करते जो नहीं करना चाहिये, तो वह स्वतः होता है, जो करना चाहिये।

तो अब केवल अपने पर इतना ही दायित्व रहा कि हम अपनी वस्तु-स्थिति से परिचित हो जायँ। और उसमें यदि कोई ऐसी बात मालूम पड़ती हो कि जिसको हमने अपनी भूल से किया है, तो अब उसको नहीं करेंगे। यही वास्तव मे सत्संग है। यहीं से विकास का आरम्भ होता है। अब जो भाई, जो बहन कहे कि नहीं, जो भूल कर चुके हैं, उसे तो हम छोड़ ही नहीं सकते। अगर कोई ऐसा कहते हैं कि हम नहीं छोड़ सकते की हुई भूल को, तो इसका अर्थ यह है कि उनके जीवन में भूल-जनित व्यथा नहीं है। यदि भूल-जनित व्यथा होती, तो भूल का त्याग सुलभ हो जाता, सहज हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने आप हो जाता है।

जैसा कि मैंने अभी कहा है कि जिसके न होने का दुःख होता है, वह होने लगता है। यह विधान की बात है। क्यों? दुःख स्वभाव से किसी को अभीष्ट नहीं है। कोई चाहता नहीं है कि जीवन में दुःख आये। किन्तु जब हम भूल करते हैं, तब दुःख आता ही है। और जब दुःख आता है, उस समय दूसरी भूल क्या करते हैं? कि हम उसका कारण दूसरों को मान लेते हैं। जो व्यक्ति अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता है, उसे अपनी भूल का स्पष्ट ज्ञान हो नहीं होता। और जिसे अपनी

भूल का ज्ञान नहीं होता, उसे दूसरे के कर्तव्य का बड़ा सुन्दर ज्ञान होता है। यह बात नहीं है कि उसमें ज्ञान नहीं है, दूसरे के कर्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान है।

यहां तक कि लोग प्रभु से ऐसी प्रार्थना करते हैं कि देखिये, आपने यह नहीं किया, और आपने यह नहीं किया, और आप यह कीजिये। अर्थात् प्रभु के कर्तव्य का भी ज्ञान रहता है, जगत् के कर्तव्य का भी ज्ञान रहता है। आप सोचिये तो सही, जब आपको सभी के कर्तव्य का ज्ञान है, तो आपको अपने कर्तव्य का ज्ञान क्यों नहीं है ? आपको अपने कर्तव्य का भी ज्ञान है। परन्तु आप अपनी ओर देखते नहीं हैं। क्यों नहीं देखते ? कि आप दूसरों से सुख की आशा करते हैं। अथवा अपने दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं।

जब तक मानव अपने दुःख का कारण किसी और को मानेगा, तब तक वह आशा करे कि मेरा दुःख मिट सकता है—वह नहीं मिट सकता। और जब तक वह दूसरों से सुख की आशा करेगा, तब तक जीवन में दुःख न आ जाय—यह कभी सम्भव नहीं है, अवश्य आयेगा। तो हम-सबकी सबसे बड़ी भूल यही होती है कि हम दूसरों से सुख की आशा करते हैं, और अपने दुःख का कारण दूसरे को मानते हैं। सुख की आशा की नहीं, कि राग उत्पन्न हो जायेगा। अपने दुःखों का कारण दूसरों को माना नहीं, कि द्वेष उत्पन्न हो जायेगा। राग और द्वेष के रहते हुये, न कोई स्वाधीन हो सकता है, और न अभिन्नता को प्राप्त होता है।

द्वेष ने ही भिन्नता को पोषित किया है, राग ने ही

हमें पराधीन बनाया है। हमारी पराधीनता में और कोई हेतु नहीं है। हमारा अपना राग है। और वह राग केवल सुख की आशा से उत्पन्न हुआ है। यदि हम अपने जीवन में-से यह बात निकाल दें कि भाई, दूसरों से सुख की आशा करना भूल है। इसमें दूसरे का अपराध नहीं है। हम लोग कभी-कभी ऐसा सोचते भी हैं, कि अच्छा! हम दूसरों से सुख की आशा नहीं करेंगे। पर सोचते हैं क्रोध पूर्वक। जब दूसरे लोग हमारे मन की बात नहीं करते, तब हम कहते हैं—अच्छा, हम तुमसे कोई आशा नही करेंगे। यह जो सोचना है वह सही नहीं है। हाँ, बिना क्रोध के, शान्त होकर यह सोचें—क्या वह भी जीवन है, जो दूसरों पर निर्भर हो! ऐसा जीवन हमें नहीं चाहिये। हमें वह जीवन चाहिये ही नहीं कि जिसकी प्राप्ति "पर" की अपेक्षा रखती हो।

अब कोई कहे कि अगर आपको नहीं चाहिये, तो आपको जीवन ही नहीं मिल सकता। तो हमें यह बात भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि जो पराधीनता में जीवन है, वह तो हमको चाहिये ही नहीं। हमें तो वही जीवन चाहिये, जो स्वाधीनता पूर्वक मिल सकता है। आप सच मानिये, यह निर्णय भर करना है। बस! आपको जीवन की प्राप्ति हो जायगी। दूसरों से सुख की आशा करने का परिणाम यह हुआ है कि आज हम दुःखी हैं। अपने दुःख का कारण दूसरों को मानने का परिणाम यह हुआ है कि हम अपने दुःख को नहीं मिटा पाते।

इसलिये भाई, यह असत् का संग है। हम किसी से सुख की आशा नहीं करेंगे। क्यों? इसलिये कि मानव हैं। इसलिये

नहीं कि दूसरों ने सुख नहीं दिया। दूसरों ने सुख नहीं दिया, इसलिये हम सुख की आशा नहीं करेंगे—यह तो क्रोध हो जायेगा। यह मानवता नहीं है। मानवता इस बात में है कि पराधीनता-जनित सुख हमको नहीं चाहिये। तभी न! हम पराधीनता से रहित हो सकते हैं। यदि हम यह सोचते रहें कि नहीं, हमको वह सुख चाहिये, जो दूसरों के द्वारा मिल सकता है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमें स्वाधीनता प्यारी नहीं लगती। जिसे स्वाधीनता प्यारी नहीं लगती, आप सोचिये तो सही, उसको चिन्मय जीवन कैसे मिलेगा? अमर जीवन कैसे मिलेगा? नित्य जीवन कैसे मिलेगा? नहीं न! मिल सकता। और जब हमें अमर जीवन नहीं मिल सकता, चिन्मय जीवन नहीं मिल सकता, नित्य जीवन नहीं मिल सकता, तो फिर जीवन ही क्या हुआ!

इसलिये धीरजपूर्वक यह बात अपनानी चाहिये कि हमें वह चाहिये नहीं, जिसकी प्राप्ति स्वाधीनता पूर्वक नहीं हो सकती अथवा यों कहो कि हमें पराधीनता कभी भी अभीष्ट नहीं है। जिसे पराधीनता अभीष्ट नहीं है, वह दूसरों से सुख की आशा क्यों करेगा? वह अपने दुःख का कारण किसी और को क्यों मानेगा? यह तो जब तक हम पराधीनता पसन्द करते हैं, तभी तक ये दोनों विकार रहते हैं। पराधीनता का अर्थ क्या है? जो अपने से भिन्न है, उसके आधीन। तो यह जो कुछ दिखाई देता है आपको, अथवा जिसकी आपको प्रतीति होती है, वह तो सब अपने से भिन्न है।

इसका अर्थ यह निकला कि हमें शरीर के सहयोग से

मिलने वाला सुख भी नहीं चाहिये। यहां शरीर का अर्थ तीनों शरीरों से लेना चाहिये। अर्थात् क्रिया-जनित, चिन्तन-जनित और स्थिरता-जनित। जो सुख किसी श्रम के द्वारा साध्य है— नहीं चाहिये। जो सुख किसी चिन्तन से साध्य है – नहीं चाहिए। जो सुख किसी अवस्था से साध्य है—नहीं चाहिये। तब कहीं हम स्वाधीनता के अभिलाषी होते हैं। और जब स्वाधीनता के अभिलाषी होते हैं, तब बिना ही प्रयत्न के स्वतः स्वाधीनता प्राप्त होती है। इससे अधिक सुगमता आपको क्या चाहिये ?

बहुत से लोग कहते हैं कि कोई सहज साधन बताइये। मैं आपसे पूछता हूँ कि कभी आपने सोचा क्या कि कोई ऐसा सहज उपाय बताइयें, जिससे रोटी मिल जाय। आप कभी नहीं सोचते हैं। और साधन ऐसा बताइये, जो बहुत ही सुलभ हो और जिससे प्रभु-प्राप्ति हो जाय, जिससे तत्व-साक्षात्कार हो जाय, जिससे दुःख की निवृत्ति हो जाय, जिससे पराधीनता मिट जाय। इन सब बातों के लिये तो आप सहज साधन चाहते हैं और रोटी खाने के लिये ? बोले, हम तो चौबीस घण्टे में-से अठारह घण्टे परिश्रम कर सकते हैं, अपनी पूरी शक्ति लगा सकते हैं। तो रोटी खाने में आप पूरी शक्ति लगा सकते हैं और सच्चाई की खोज में आप सोचते हैं—कोई सहज-साधन बताइये सुलभ साधन बताइये। मैं आपसे पूछता हूं—रोटी खाने के लिये जितना श्रम कर सकते हैं, सत्य की खोज के लिये उतना क्यों नहीं कर सकते ? उतना तो कर ही सकते हैं न !

तो आज हमें सत्य की प्राप्ति क्यों नहीं होती ? यह नहीं कि हम उसके अधिकारी नहीं हैं। आप अधिकारी तो हैं, परन्तु

अपनी पूरी शक्ति नहीं लगाते। और इतना ही नहीं, यह आवश्यकता भी अनुभव नहीं करते कि हम स्वाधीनता के बिना किसी भी प्रकार रह नहीं सकते। जिसकी प्राप्ति आवश्यकता-मात्र में निहित है, उससे निराश हो जायें, और जिसकी प्राप्ति विधान से सम्बन्ध रखती है, माँगने से सम्बन्ध नहीं रखती, हमारी कामना से ही जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी आज हम आशा करते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति किसी व्यक्ति की निर्मित नहीं है, प्राकृतिक विधान से निर्मित है। हम अप्राप्त परिस्थिति की आशा करते रहते हैं। इसका अर्थ क्या है? कि जिसे नहीं कर सकते; स्वाधीनतापूर्वक नहीं पा सकते, उसकी हम आशा करते हैं। और जिसको हम स्वाधीनतापूर्वक पा सकते हैं, उससे निराश होते हैं। सबसे बड़ी भूल यही एक है। आप स्वाधीनता पूर्वक स्वाधीन हो सकते हैं। आप स्वाधीनता पूर्वक प्रेम प्राप्त कर सकते हैं। आप स्वाधीनता पूर्वक कर्तव्य-निष्ठ हो सकते हैं। क्यों? जब आप वह नहीं करें, जो नहीं करना चाहिये, तो अपने आप कर्तव्य-परायणता आ जायेगी। जब आपको पराधीनता अभीष्ट ही नहीं है तो अपने आप असंगता आ जायेगी। और जब प्रभु से भिन्न किसी में आस्था नहीं करते, तो अपने आप आत्मीयता आजायेगी। तो आत्मीयता आस्था में।

अब आप सोचिये, आप यह कहें कि हम तो आस्था कर ही नहीं सकते। यदि आप आस्था नहीं कर सकते, तो यह तो बताइये कि आप कर क्या सकते हैं? इस प्रकार जब आप स्यंव विचार करेंगे, तब "व्यक्तिगत-सत्संग" होने लगेगा।

और जब व्यक्तिगत सत्संग होने लगेगा, तब बड़ी ही सुगमता पूर्वक आप अपने में-से अपनी भूल-जनित क्रियाओं को निकाल सकेंगे, विवेक-विरोधी विश्वास को तोड़ सकेंगे, विवेक-विरोधी कर्म का नाश हो जायेगा। बस ! फिर कुछ भी करना नहीं है। क्यों करना नहीं है ? कि फिर जो करने की बात है, वह स्वतः होने लगेगा।

कर्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता—ये साधन हैं, सत्संग नहीं है। सत्संग क्या है ? हम वह न करें, जो नहीं करना चाहिये, जिसे नहीं कर सकते—यह सत्संग हुआ, यह साधन नहीं है। अर्थात् विवेकी-विरोधी कर्म का त्याग सत्संग है, कर्तव्यपरायणता साधन है। विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग सत्संग है, असंगता साधन है। विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग सत्संग है, आत्मीयता साधन है। कर्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता प्रत्येक भाई को और प्रत्येक बहन को व्यक्तिगत सत्संग करने पर स्वतः प्राप्त होता है। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं है।

कर्तव्यपरायणता आते ही आप चाहो तो, न चाहो तो, आपका जीवन जगत् के लिये उपयोगी हो जायेगा। असंगता प्राप्त होते ही आपके न चाहने पर भी आपका जीवन आप-अपने लिये उपयोगी हो जायेगा। और आत्मीयता प्राप्त होते ही आपका जीवन प्रभु के लिये उपयोगी हो जायेगा। जीवन जगत के लिये उपयोगी हो जाय—इसमें लोगों को उलझन नहीं मालूम होती, आश्चर्य नहीं मालूम होता। अपने लिये उपयोगी हो जाय—यह भी सुगमता से मान्य हो जाता है।

परन्तु जब मैं यह कहता हूं कि आपका जीवन प्रभु के लिये भी उपयोगी हो जायेगा, तो थोड़ी चौंक पैदा होती है। क्यों होती है? कि वे सोचते हैं कि वे समर्थ हैं, भला उनको हमारी क्या जरूरत है! सोचिये तो सही, समर्थ को हमारी इसलिये जरूरत नहीं है कि हम उनको कुछ देंगे।

२६

ख
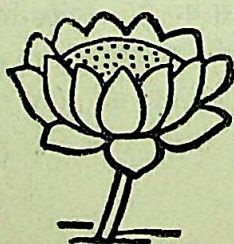
यह तो बात ठीक है। परन्तु जिसने हमारा निर्माण किया है, हम उसमें आस्था न करें, हम उसे अपना न मानें, तो क्या यह बात उस निर्माणकर्त्ता को पसन्द होगी ? कभी पसन्द नहीं होगी। जिसने हमारा निर्माण किया है, उसने हमें यह सामर्थ्य प्रदान की है कि हम उसको अपना मानें । उसमें हमारी आत्मीयता हो। और आत्मीयता होने से स्मृति जागृत होती है, प्रियता उदित होती है। तो क्या अनन्त को अपनी प्रियता नापसन्द होगी ? अच्छी नहीं लगेगी ? अवश्य लगेगी। आप जीवन में अनुभव करके देखिये। आपका ही उत्पन्न किया हुआ बालक हो, और आपका ही बनाया हुआ भोजन हो, और जब वह बालक आपके बनाये हुये भोजन को आपके बनाये हुये हाथ से लेकर आपके मुँह में देता है, तब किसी मां से पूछिये, कि मां को कितनी प्रसन्नता होती है !

आपको मालूम हो जायेगा कि जिसने हमारा निर्माण किया है, जो सर्व-समर्थ है, उसको भी प्रसन्नता होती है। कब ?

जब हम उसे अपना मानते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें खिन्नता थी, इसलिये उसको प्रसन्नता की आवश्यकता हुई—इसका अर्थ यह नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जो अपनी महिमा में आप स्थित है, उसको जब हम अपना कहते हैं, तब उसे इसलिये प्रसन्नता होती है कि आत्मीयता-जनित जो प्रियता है उसकी कभी पूर्ति नहीं होती, और निवृत्ति भी नहीं होती। तो निवृत्ति-पूर्ति-रहित जो प्रियता है, वह अनन्त है। तो अनन्त की प्रियता से ही अनन्त को रस मिले—इसमें आपको सन्देह क्यों होता है? इसमें सन्देह इसलिये होता है आपको—कि आप अखण्ड रस तो पसन्द कर लेते हैं। और इसलिये पसन्द कर लेते हैं कि आपमें जो अखण्ड रस न होने का दुःख था, वह मिट गया।

तो अखण्ड रस का अर्थ है—दुःख-निवृत्ति। स्वाधीनता का अर्थ है—दुःख-निवृत्ति। चिन्मय जीवन का अर्थ है—दुःख निवृत्ति। मैं आपसे पूछता हूं—परमानन्द की प्राप्ति के लिये क्या उपाय है आपके पास? आप ममता-रहित हो गये—निर्विकारता प्राप्त हो गई, विकार-जनित दुःख नाश हो गया। आप निष्काम हो गये—परम शान्ति प्राप्त हो गई, अशान्ति-जनित दुःख नाश हो गया। आप असंग हो गये—पराधीनता जनित दुःख की निवृत्ति हो गई, स्वाधीनता प्राप्त हो गई। तो यहाँ तक तो अपने दुःख-निवृत्ति की बात है। किन्तु दुःख निवृत्ति के साथ-साथ जब परमानन्द प्राप्ति का लक्ष्य होता है, तो मानना ही पड़ेगा कि उस लक्ष्य की प्राप्ति आत्मीयता में है, अगाध प्रियता में है।

इसी आधार पर यदि यह निवेदन कर दिया जाय कि जीवन

प्रभु के लिये भी उपयोगी होता है, जगत् के लिये भी उपयोगी होता है, अपने लिये भी उपयोगी होता है—तो इसमें अत्युक्ति नहीं है। यह बात अलग है कि प्रभु के लिये उपयोगी हम अपने बल से होते हों—सो नहीं होते, अपनी विशेषता से होते हों—सो नहीं होते। उन्हीं की दी हुई विशेषता से। अरे भाई ! गंगा जल से गंगा की पूजा कर दी जाय, तो इसमें क्या पूजा करने वाले की विशेषता है ? उन्हीं के दिये हुये से, उन्हीं के निर्माण किये हुये से, हम उनके लिये उपयोगी होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे असमर्थ हैं, या परिपूर्ण नहीं हैं या अखण्ड नहीं हैं, या नित्य नहीं हैं। वे सब कुछ हैं, हम कुछ नहीं हैं—यह बात ठीक है। परन्तु उनके होने से उनके लिये उपयोगी होते हैं। यह है—आस्तिकता।

जब मैंने अध्यात्मवाद, भौतिकवाद और आस्तिकवाद का विभाजन किया तो मेरे एक बड़े पुराने मित्र कहने लगे कि आप अध्यात्मवाद और आस्तिकवाद में भेद क्यों करते हैं ? तो मैंने कहा—रस की दृष्टि से भेद करता हूं। अध्यात्मवाद का अर्थ क्या है ? अपने सम्बन्ध में पूरी जानकारी। भौतिकवाद का अर्थ क्या है ? जगत् के सम्बन्ध में पूरी जानकारी। आस्तिक-वाद का अर्थ क्या है ? सुने हुये में आस्था। सुने हुए में आस्था ही वास्तव में आस्था है। आप देखे हुये में विश्वास करेंगे तो धोखा खायेंगे। और जाने हुये में विश्वास की अपेक्षा ही नहीं होती।

जरा विचार करें, विश्वास की अपेक्षा जाने हुये में नहीं

होती। और जिसके सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, उसमें भी विश्वास नहीं कर सकते। जिसके सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। और पूरा जब जानते हैं, तब जिज्ञासा की पूर्ति होती है। तो आप ही बताइये, विश्वास का उपयोग कहां करेंगे? अपने सम्बन्ध में कर नहीं सकते, जगत् के सम्बन्ध में कर नहीं सकते! क्योंकि जगत् के सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, अपने सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं।

इसलिये जब जिज्ञासा होती है, तब यह नहीं होती कि परमात्मा कैसा है! यह तो लोग वैसे ही कहने लग गये। 'यह' क्या है? "मैं" क्या हूं?। जिज्ञासा का क्षेत्र "यह" और "मैं" है। विश्वास का क्षेत्र प्रभु हैं। या तो आप यह कहिये कि जीवन में विश्वास की आवश्यकता ही नहीं है। ठीक है। इससे कोई आपकी हानि नहीं होगी। देखिये, मानव-सेवा-संघ की साधन-प्रणाली में हानि कब होती है? कि जब आप अपनी बात नहीं मानते हैं। यदि आप अपनी बात मान लें, तो हानि बिल्कुल नहीं है।

अगर आप में विश्वास की सामर्थ्य नहीं है, आपके जीवन में विश्वास जैसी चीज नहीं है, यदि आपने कभी किसी में विश्वास किया ही नहीं है, तो मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में यह आग्रह नहीं है कि आप विश्वास कीजिये। परन्तु एक बात तो बताओ, यदि कोई विश्वास करे, तो आप विरोध क्यों करते हो? यानी आप विश्वास न करें, इसमें आप स्वाधीन हैं। लेकिन आप किसी को विश्वास न करने दें—यह कौन-सी योग्यता की बात है? मानव-सेवा-संघ ने एक बड़ी सुन्दर बात बताई कि आप

अपने साधन का अनुसरण करें, परन्तु दूसरे के साधन का विरोध तो न करें ! अनादर तो न करें !

मेरा यह निवेदन है कि जीवन प्रभु के लिये उपयोगी होता है, इसलिये कि प्रभु ने हमें वह सामर्थ्य प्रदान की है। मैं आपसे पूछता हूं, यदि आपहो परमात्मा हैं—ऐसा अगर मान लें, तब भी तो आपको अपने में विश्वास करना चाहिये कि नहीं ? आपको अपने में प्रियता होनी चाहिये कि नहीं ? आप प्रियता का विरोध नहीं कर सकते। आप विश्वास का विरोध नहीं कर सकते। क्यों ? आप रह नहीं सकते बिना विश्वास किये। वस्तु-विश्वास भी तो विश्वास ही है न ! किन्तु उसने लोभ को उत्पन्न कर दिया। व्यक्ति-विश्वास भी तो विश्वास ही है न ! परन्तु उसने मोह को उत्पन्न कर दिया। परिस्थिति-विश्वास ने दीनता और अभिमान को जन्म दिया। अवस्था के विश्वास ने परिच्छिन्नता को पोषित किया।

तो क्या यह विकार-युक्त जीवन किसी भाई को, किसी बहन को अभीष्ट है ? आपको मानना पड़ेगा—नहीं है। यदि अभीष्ट नहीं है, तो वस्तु-विश्वास त्याग किये बिना देखिये, निर्लोभता कैसे प्राप्त हो जायगी ? आप क्या समझते हैं कि दान देने से कोई निर्लोभ होता है ? दान देने से तो लोभ की वृद्धि होती है कि और मिले तो और दें, और मिले तो और दें। एक बात। दूसरी बात आप सोचिये, वस्तु को अपना मानकर देने में फलासक्ति नहीं होगी ? अवश्य होगी।

तो वस्तु-विश्वास के रखते हुये निर्लोभता प्राप्त कर सकते हैं ? कभी सम्भव नहीं है। और निर्लोभता के बिना दरिद्रता मिट सकती है ? यह कभी भी सम्भव नहीं है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि यदि हमारे जीवन में निर्लोभता आजाय, तो दरिद्रता रह नहीं सकती। आप जानते हैं कि निर्लोभता का अर्थ क्या है ? प्राप्त में ममता न हो, संग्रह की रुचि न हो, मिले हुए का दुरुपयोग न हो, अप्राप्त की कामना न हो। जब ये सारी बातें जीवन में आ जाती हैं, तब निर्लोभता आती है। निर्लोभता आते ही प्रकृति लालायित होती है कि आवश्यक वस्तु आपको प्रदान करे।

पर यह विज्ञान आज हम भूल गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि लोग समझते हैं कि लोभ से दरिद्रता नाश होगी, संग्रह से दरिद्रता नाश होगी—कभी नहीं होगी। परिस्थितियों के चिन्तन से परिस्थिति प्राप्त होगी—कभी नहीं होगी। इसलिए भाई, इस विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करना ही होगा। और जब आप इस विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग कर देंगे, तब आपमें निर्विकारता आ ही जायेगी। वस्तु-विश्वास का त्याग हुआ कि निर्लोभता आई। व्यक्ति-विश्वासका त्याग हुआ कि निर्मोहता आई। अवस्था विश्वास का त्याग हुआ कि अपरिच्छिन्नता आई। आप कहेंगे, कैसे ? विश्वास सम्बन्ध न ! जोड़ देता है। विश्वास ही तो एक जञ्जीर है जो "नहीं" में भी बाँध दे, और "है" में भी बांध दे। यह बड़ी विलक्षण बात है। यानी विश्वास की विलक्षणता है कि "नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ दे, और "है" के साथ भी सम्बन्ध जोड़ दे।

तो विश्वास किसमें करना चाहिये ? जो "है" जो 'है' ! "है" में ही आस्था करनी चाहिये। बोले—'है' किसको कहते हैं ? कि जो "नहीं" को "नहीं" जान लोगे, तो 'है' का बोध हो जायेगा। आप "है" को नहीं जानते हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं। आप "नहीं" को जानते हैं क्या ? "नहीं" को जानने से 'है' का बोध हो जाता है। यदि कोई कहें कि 'सत्' को जानते नहीं। तो 'असत्' को जानते हो ? तो 'असत्' के जानने से 'सत्' का बोध हो जाता है। क्यों ? 'असत्' का ज्ञान 'असत्'की असङ्गता के बिना होता ही नहीं है। और जब 'असत्' से असङ्गता होती है, तब 'सत्' से अभिन्नता होती ही है।

तो तात्पर्य क्या निकला ? कि 'असत्' के ज्ञान में 'सत्' की प्राप्ति है। असत् के ज्ञान में "सत्" की प्राप्ति है। लोग सोचते हैं कि हमको 'आत्मा' का ज्ञान हो जाय। ज्ञान 'अनात्मा' का होगा, 'आत्मा' का नहीं होगा। हाँ, 'आत्मा' की प्राप्ति होगी, 'आत्मा' में प्रियता होगी। ऐसे ही ज्ञान जो होता है, वह आपको जगत् का होता है, परमात्मा का नहीं होता। परमात्मा की आपको प्राप्ति होती है। तो जिसकी प्राप्ति होती है, उसी में आस्था करना है और जिसमें आस्था होती है, उसी में आत्मीयता होती है। और जिसमें आत्मीयता होती है, उसी में प्रियता होती है।

इस दृष्टि से यह निर्विवाद सत्य हो जाता है कि हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि जीवन प्रभु के लिए उपयोगी

होगा। अवश्य होगा। आप कहें—प्रभु समर्थ हैं, उन्हें हमारे लिये उपयोगी होना चाहिये। तो प्रभु तो आपके लिये उपयोगी हैं ही। बहुत दिनों की बात है, मैं मैनपुरी में एक मित्र के यहाँ ठहरा हुआ था। उनकी माँ ने मुझसे पूछा कि भगवान् ने संसार को क्यों बनाया ? मैंने उत्तर दिया कि मेरे लिये बनाया। ऐसा दुःख-रूप क्यों बनाया ? वह इसलिये बनाया कि मैं कहीं फँस न जाऊँ। बनाया मेरे लिए और दुःख-रूप इसलिये बनाया कि मैं इसमें फँस न जाऊँ। तो भगवान् ने जो कुछ किया है, वह मेरे हित में किया है। यह बात विनोद की होने पर भी वास्तविक है।

मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर आप संसार से कोई आशा नहीं करते. तो कभी संसार ने आपको अपना मुँह दिखाया है क्या ? विचार तो करो। जब आप कोई कामना पूरी करना चाहते हैं, तब न ! आपको संसार का भास होता है। आप कुछ न चाहें, संसार आपको मुँह नहीं दिखायेगा। आप कहेंगे कि जिसने करुणा करके हमारी कामना की पूर्ति के लिए संसार बनाया, उसने ऐसा क्यों नहीं बनाया, जो सभी कामनायें पूरी हो जायें ? तो मैं आपसे पूछता हूँ, क्या कामना-पूर्ति काल में आप पराधीनता का अनुभव नहीं करते ? तो क्या प्रभु ऐसी सृष्टि का निर्माण करते, जो आप सदैव पराधीन बने रहते ? आप सच मानिये, कामना-अपूर्ति—यह किसी पाप का फल नहीं है। यह वैधानिक बात है।

आज लोग समझते हैं—हम बड़े अभागे हैं ! बोले, क्यों ?

कि जो हम चाहते हैं, सो होता ही नहीं। अरे बाबू ! जो तुम चाहते हो, वह नहीं होता, इसलिए आप अभागे नहीं हैं। आप चाहते हैं,—इसलिये अभागे हैं। और यह जानते हुये कि जो चाहते हैं सो नहीं होता, फिर भी चाहते हैं।

एक बार साधननिष्ठा देवकीजी ने एक बड़ा सुन्दर व्याख्यान दिया। वे जब कभी व्याख्यान देती हैं तो अपने को सामने रख-कर बोलती हैं। उन्होंने यह कहा कि मैं जो चाहती हू सो होता नहीं, और जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है वह रहता नहीं। उस व्याख्यान में एक युवक बैठा हुआ था। वह टप-टप रोने लगा। वह कहने लगा कि दादीजी ने जीवन का चित्र सामने रख दिया। उसके बाद मुझे बोलना था। आज-कल मैं पहले बोलता हूँ, पीछे वे बोलती हैं। उन दिनों वे पहले बोलती थीं, मैं पीछे बोलता था। क्योंकि वे अपने व्याख्यान में प्रश्न स्थापित करती थीं; मैं उत्तर देता था। आज उनका अपना प्रश्न नहीं रहा है, प्रभु कृपा से हल हो गया है। तो मैंने कहा कि जब तुम जानती ही हो कि जो मैं चाहती हूं सो नहीं होता, तो फिर चाहती ही क्यों हो ?

अरे, जब हम जानते ही हैं, कि जो हम चाहेंगे सो होगा नहीं, तो क्यों नहीं अचाह हो जातीं ? और जब आप अचाह हो जाते हैं, जब आप कुछ नहीं चाहते हैं, तब आप अप्रयत्न भी हो जाते हैं। अकर्मण्य नहीं हो जाते। अप्रयत्न में और अकर्मण्यता में एक बड़ा अन्तर है। अकर्मण्य तो वह होता है जो दूसरे के कर्तव्य पर दृष्टि रखता है। और अप्रयत्न

वह होता है, जो निष्कामता को अपनाता है। अप्रयत्न बहुत बड़ा साधन है। अकर्मण्यता बहुत बड़ा असाधन है। साधन और असाधन में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर अप्रयत्न और अकर्मण्यता में है।

अप्रयत्न होते ही अभिन्न होते हैं। क्यो ? अहंकृति ने ही सीमित अहभाव को जीवित रखा है। और सीमित अहं-भाव से ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हुए हैं, भिन्नतायें उत्पन्न हुई हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अप्रयत्न में अभिन्नता है। अभिन्नता में अगाध प्रियता है। अगाध प्रियता में अनन्त रस है। इस दृष्टि से जब आप विचार करेंगे तो आपको स्पष्ट विदित होगा कि आपका मानव-जीवन असफलता के लिए नहीं है, निराशा में आवद्ध होने के लिए नहीं है, भय में आबद्ध होने के लिए नहीं है, पराधीनता में आबद्ध होने के लिए नहीं है, जड़ता में आबद्ध होने के लिए नहीं है।

तो किसलिए है ? स्वाधीनता के लिए है, चिन्मय जीवन के लिए है, अनन्त रस के लिए है, पूर्णता के लिए है। यह जीवन ही आपका पूर्णता के लिए है। कोई परिस्थिति पूर्णता के लिए नहीं है। अतः जो भी परिस्थिति आपको प्राप्त है, उसी के सदुपयोग में आपका विकास है। आज हम सोचते हैं—क्या बतायें ! हमें साथी अच्छा नहीं मिला, अगर साथी अच्छा मिल जाता, तो हमारा विकास हो जाता ! जरा सोचो तो सही, जैसा मिला है, उसकी ममता छोड़ पाते हो ? हा, उस पर क्रोध करते हो, उस पर अपना अधिकार रखते हो। क्या उसका

त्याग कर पाते हो ? अगर आप उस साथी का त्याग कर सकते होते, तब भी आपको सिद्धि मिल जाती।

तो मैं आपसे पूछता हूं—एक साथी जिसे आप नापसन्द करते हो उसकी ममता नहीं छोड़ पाते, तो फिर अगर पसन्द का साथी मिल जाता तो आप कभी छोड़ पाते ? मैं सच कहता हूं, जिस किसी भाई को, जिस किसी बहन को जो कुछ मिला है, उसी में उसका विकास है। आज यह भूल जाने का फल क्या हुआ ? हम अप्राप्त का चिन्तन करते रहते हैं। और प्राप्त का आदरपूर्वक स्वागत नहीं करते, सदुपयोग नहीं करते। आप जानते हैं, अकर्तव्य का मूल क्या है ? प्राप्त का आदर न करना, प्राप्त का सदुपयोग न करना और अप्राप्त का चिन्तन करना।

अप्राप्त की कभी प्राप्ति होगी नहीं, नित्य प्राप्त की प्राप्ति होती है। प्रभु अप्राप्त नहीं हैं। प्रभु नित्य प्राप्त है, शान्ति नित्य प्राप्त है, स्वाधीनता नित्य प्राप्त है, त्याग और प्रेम आपको नित्य प्राप्त है। ये अप्राप्त नहीं हैं। तो जो नित्य प्राप्त है, उसी की प्राप्ति होगी। जो अप्राप्त है उसकी कभी प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए जो भी आपको मिला है, आप उसका आदरपूर्वक स्वागत कीजिये। आप जानते हैं, जब हम मिले हुए का आदरपूर्वक स्वागत करने लगते हैं, तब उसकी निन्दा नहीं करते, तब उसे बुरा नहीं समझते। और जब हम किसी और की निन्दा नहीं करते, किसी और को बुरा नहीं समझते, किसी और के दोष नहीं देखते, तब हमें अपने आप अपने दोष दिखाई देते हैं।

आपको जो दोष देखने की शक्ति मिली है, वह निरर्थक नहीं मिली है, उसका जीवन में उपयोग है, पर अपने प्रति है। तो जिसका उपयोग अपने प्रति था, उसका तो करने लगे दूसरों पर। और जिसका उपयोग दूसरों के प्रति था, उसको करने लगे अपने पर। अपने को क्षमा कर देंगे। हमको क्रोध आ गया, तो कहेंगे कि क्यों न आ जाता ? परिस्थिति ऐसी हो गई। यानी हमको क्रोध आ गया—यह तो कोई ऐसी बात नहीं हुई जो नहीं होनी चाहिये। किन्तु दूसरे ने भूल की तो वह ऐसी की, जो नहीं करना चाहिये। यह हमारा न्याय नहीं है, यह घोर अन्याय है। यह हमारी भूल है, हमारी असावधानी है।

किसी भी भाई को, किसी भी बहन को, किसी को किसी का दोष देखने का कभी भी अधिकार नहीं है। जब हम पर-दोष-दर्शन नहीं करेंगे, किसी को बुरा नहीं समझेंगे, तब हमें स्वयं अपने दोष का दर्शन होगा। मैंने अभी निवेदन किया था कि दोष का दर्शन निर्दोषता में होता है। जिस समय आप अपना दोष देखते हैं और दिखाई दे जाता है, उस समय आप दोषी नहीं होते। उस समय आप निर्दोष होते है। किन्तु भूल क्या करते है कि अपना दोष देखते हैं तो कहते हैं—'हाय ! हम तो बड़े पापी हैं।' क्यों ?' 'हमने यह पाप किया।' कब ? बोले, 'भूतकाल में'। भूतकाल में पापी थे कि वर्तमान में पापी हैं ?

अपने दोष का दर्शन—यह सत्संग है। किन्तु भूतकाल के दोष के आधार पर वर्तमान में दोषी मान लेना—यह असत्-संग है। तो हमें भूतकाल के दोष को देखना है, जानना है। किन्तु वर्तमान की निर्दोषता में अविचल आस्था रखना है।

यदि आप कुछ भी न करें, तब भी निर्दोष हैं, दोषी नहीं हो सकते। कुछ न करने से कोई दोष नहीं हो सकता। गलत करने से न! दोषी होते हैं। कुछ न करने से कोई थोड़े ही दोषी होता है! असमर्थ होने से थोड़े ही कोई असफल हुआ है! सामर्थ्य के दुरुपयोग से असफल हुये हैं।

इसलिये मेरे भाई! कभी-भी निराश होने की जरूरत नहीं है। आपका मानव-जीवन बड़ा ही अनुपम जीवन है, अद्भुत जीवन है। क्यों? इसी जीवन में सद्गति होती है। इसी जीवन में दुःख-निवृत्ति होती है। इसी जीवन में परमानन्द की प्राप्ति होती है। आप इस जीवन को अगर अनुपम जीवन नहीं मानते हैं। यदि आप इस जीवन का आदर नहीं करते हैं, स्वागत नहीं करते हैं, इसके महत्त्व को नहीं जानते हैं, तो अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करते हैं! इसलिये प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को मानव होने के नाते इसमें अविचल आस्था करना चाहिये कि हम सफल होसकते हैं। यह जीवन सफलता के लिये मिला है। इस जीवन में असफलता के लिये कोई स्थान ही नहीं है। परन्तु इसका उपाय है एक-मात्र अपने जाने हुये असत् का त्याग। असत् का त्याग और सत् का संग युगपद् हैं।

जब हम असत् का त्याग करते हैं, सत् का संग होता है। सत् का संग होते ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयतारूपी जो साधन है उसकी अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिये उपयोगी होता है अर्थात् सुन्दर समाज के निर्माण में आपका पूरा सहयोग हो जाता है। असंगता से जीवन अपने लिये उपयोगी होता है।

और आत्मीयता से जीवन प्रभु के लिये उपयोगी होता है। यह मानव का अपना चित्र है। मानव को अपने इस महत्व को नहीं भूलना चाहिये। परन्तु इसके साथ-साथ बड़ी ही सजगतापूर्वक इस बात पर दृष्टि रखना चाहिये कि ये मानव-जीवन में जो सौन्दर्य है वह उस निर्माता की देन है, यह व्यक्तिगत उपार्जन नहीं है। अतः आपको उस अनन्त ने इतना सुन्दर बनाया है कि आप जगत् के प्यारे हैं और प्रभु के दुलारे हैं। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

२७

भक्ति पांच बातों से प्राप्त होती है—

(अ) मैं प्रभु की जाति का हूं।
(ब) उनसे मेरा नित्य सम्बन्ध है।
(स) वे अपने हैं।
(द) मुझे उनसे कुछ नहीं चाहिये।
(य) मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ उनका है।

श्रीकृष्ण चरित्र में प्रेम-स्वरूपा गोपियों का जीवन आदर्श है। उनके पास अपना मन नहीं है, अपना कोई संकल्प नहीं है। उनके पास जो कुछ है, वह सब श्रीकृष्ण का है। उनका व्रत केवल अपने प्रेमास्पद को रस देना है। इसी का नाम भक्ति है।

प्रेम ऐसा अलौकिक तत्व है कि प्रेमी का सारा शरीर प्रेम के परमाणुओं से निर्मित होजाता है।

समस्त वस्तुओं का निर्माण प्रभु ने मानव के लिये किया है; और मानव का निर्माण अपने लिये।

भक्त-जन स्वयं को प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिये समर्पित कर देते हैं। रामावतार एवं कृष्णावतार में भगवान् के विविध परिकरों के उत्तम चरित्र में यह भाव भरे पड़े हैं।

—●—

२७

अ

प्रवचन :

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा

भाइयो और बहनो !

मानव-जीवन की पूर्णता नित-नव रस की अभिव्यक्ति में है। और रस का स्रोत एक-मात्र अगाध प्रियता में है। अगाध प्रियता किसी अभ्यास से प्राप्त नहीं होती, एक-मात्र आत्मीयता से, अपनेपन से प्राप्त होती है। तो जो साधक सुने हुये प्रभु को अर्थात् जिसे इन्द्रिय-दृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा है, केवल अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर अपना मान लिया है, उसमें जो आत्मीयता स्वीकार कर ली है– यह मान लिया है कि वे अपने हैं—इसी का नाम भक्ति है।

यह भक्ति पाँच बातों से प्राप्त होती है। सबसे पहली बात यह है कि साधक को यह मान लेना चाहिये कि मैं उस प्रभु की जाति का हूँ। जिस धातु से प्रभु बने हैं उसी धातु का मैं हूँ। मुझमें-उनमें कोई जातीय भेद नहीं है। दूसरी बात—उनसे मेरा नित्य सम्बन्ध है; पहले भी था, अब भी है, आगे भी रहेगा। और तीसरी बात यह कि वे अपने हैं। चौथी बात यह कि उनसे कुछ नहीं चाहिये, उनसे कुछ लेना नहीं है।

और पांचवीं बात यह कि अपने पास जो कुछ है वह उन्हीं का है, अपना नहीं है। इन पाँच बातों से प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन भक्त होजाते हैं। भक्त होने से स्वतः अपने आप भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

जब तक किसी और को अपना मानेंगे, तब तक प्रभु को अपना कैसे मान पायेंगे! जब तक कुछ चाहेंगे, तब तक आत्मीयता सजीव कैसे होगी! तो, जिसको लोग निर्विकारता कहते हैं, जिसको लोग मुक्ति कहते हैं, वह भक्ति का सहयोगी साधन है। इस दृष्टि से शान्ति और स्वाधीनता के पश्चात् मानव भक्त होता है। जो अशान्त है, जो पराधीन है, जिसे कुछ चाहिये, जिसके पास उसका अपना करके कुछ है, वह भक्त नहीं होसकता। वह भक्त नहीं होसकता। किन्तु आपका भूतकाल कैसा रहा है, आपकी परिस्थिति कैसी है, आप में योग्यता कितनी है, आप क्या कर सकते हैं—इन सब बातों से भक्ति का कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि यदि आपके पास अमुक योग्यता नहीं है तो आप भक्त नहीं होसकते—ऐसी बात नहीं है। आपमें अमुक प्रकार की सामर्थ्य नहीं है तो आप भक्त नहीं हो सकते—ऐसी बात नहीं है। हाँ, चाहे जैसे हों, और भूतकाल आपका चाहे जैसा बीता हो, किन्तु यदि वर्तमान में आप यह स्वीकार करलें कि प्रभु! आप मेरे हैं, सब कुछ तेरा है—बस, भक्त होगये। इतनी स्वीकृति-मात्र से भक्त होगये। क्यों? जब आपके पास अपना करके कुछ नहीं रहा तो आप निर्विकार, निष्काम हो ही जायेंगे, स्वाधीन हो ही जायेंगे। और जब आपने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु अपने हैं, तो अपने होने से वे प्यारे लगेंगे।

आपने सुना होगा कि जब शरद पूर्णिमा के दिन श्याम सुन्दर ने बंशी बजाई थी, तब गोपियाँ जो जिस स्थिति में थीं उसी स्थिति में, उसी दशा में ज्यों-की-त्यों वन की ओर चल दीं। उनकी दशा का जो वर्णन है, वह इतना सुगम तो है नहीं, इतना है कि वर्णन करने के लिए बहुत समय चाहिये। किन्तु सारांश उसमें इतना ही है कि अगर कोई गोपी एक आँख में काजल लगा चुकी थी, तो उसी दशा में चल दी। यानी अस्त-व्यस्त दशा में। आप जानते हैं, काम का उद्गम क्या है ? कामी का स्वभाव क्या है ? काम का उद्गम है— अपने शरीर की सत्यता और सुन्दरता में आस्था। अथवा शरीर को सजाने का प्रयास। स्वस्थ रखना काम नहीं है। लेकिन यह जो आज-कल की प्रथा के अनुसार ड्रेसिंग रूम है न ! उसको ड्रेसिंग रूम कहते हैं। उसको कहना चाहिये— कामघर। वहाँ जाकर आदमी एक बनावटी ढग से, आधुनिक ढंग से अपने शरीर को सजाता है। जिनमें काम नहीं रहता, उनमें शरीर को सजाने की बात ही नहीं आती।

इसलिये गोपियाँ जिस दशा में थीं उसी दशा में चल दीं। और जब वन में पहुँचीं, तो श्याम सुन्दर ने कहा—'हे गोपियो ! क्या तुम रास्ता भूल गई हो, जो इस समय वन में आई हो रात में ?' गोपियों ने कहा—"महाराज ! हम रास्ता नहीं भूल गईं हैं।" 'तो क्या तुम यह नहीं जानती कि वेद का धर्म क्या है ? वेद ने क्या बताया है ? वेद ने बताया है कि रात्रि के समय पर स्त्री को पति या पुत्र के साथ रहना चाहिये। तुम वन में कैसे आगईं ?' गोपियों ने कहा—"हे श्याम सुन्दर ! हम आपको आचार्य बनाने नहीं आईं, गुरू

बनाने को नहीं आईं।" 'तो कि जाओ यहाँ से, क्यों आईं ?' तो उन्होंने कहा—"हम तो इसलिये आईं थीं कि हमें देखकर आप प्रसन्न होंगे। आपको रस मिलेगा हमारे देखने से। हम इसलिये आईं। और जहाँ आप जाने की कहते हैं वहाँ तो हमारा तृण के समान भी सम्बन्ध नहीं है।—एक बात। दूसरी बात यह है महाराज ! कि मन के बिना तन कैसे जाय ! हमारे पास हमारा मन नहीं है।"

अब आप विचार कीजिये, मन किसके पास नहीं होता ? जो निष्काम हो। तो मन किसका नहीं होता ? जो निर्मम हो। इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि गोपियाँ निर्मम भी थीं और निष्काम भी थीं। उस पर भी श्यामसुन्दर ने कहा—'तुम जाओ।' तब गोपियों ने कहा—"हे धर्म के आचार्य ! तू यह बता कि किसी का पति कहीं चला गया हो और अपनी प्रतिमा बनाकर देगया हो। और यह कह गया हो कि तुम इसकी सेवा पूजा करना, तो स्त्री को क्या करना चाहिये ?" 'तो उसकी सेवा-पूजा करनी चाहिये।' "और जब उसका असली पति आजाय, तब क्या करना चाहिये ? तब उसे उस प्रतिमा की पूजा करना चाहिये या उस असली पति से प्रेम करना चाहिये ?" भाई ! तब तो उसे असली पति से प्रेम करना चाहिये।'

तो गोपियों ने कहा—'हे श्याम सुन्दर ! हे धर्माचार्य ! तुम यह तो बताओ जगत का पति कौन है ? यह हमको बताओ, जगत का प्रकाशक कौन है ? जगत् का पति कौन है ? यदि आप जगत् के पति हैं, तो बताइये, हम असली पति को छोड़ कर कैसे जायें ?" इस पर भी श्याम सुन्दर ने कहा—

'जाओ।' तब गोपियों ने अन्त में एक बात कही, और यह कहा—"कि महाराज! जहाँ आप जाने की बात कहते हैं, वहाँ तो हमारा सम्बन्ध ही नहीं है, और हमारे पास हमारा मन नहीं है, जो हम जायँ। हम तो बे-मन की हैं। इस पर भी यदि आप हमें देखकर प्रसन्न नहीं होते, तो अब हम सब भस्म होजायेंगीं! और जब हम विरहाग्नि में भस्म होजायँ, तब आप एक बार उस भस्म के ऊपर से निकल जाना।"

यहाँ एक बड़ा दार्शनिक रहस्य है। आप जानते हैं, जिस समय अहं रूपी अणु नहीं रहता, उस समय उस अनन्त में यह सामर्थ्य नहीं रहती कि वह त्याग कर सके। तात्पर्य क्या निकला? जिसने अपने प्रेमास्पद को रस देने के लिये ही अपने को स्वीकार किया है, जिसका यह व्रत है कि प्रीतम को रस मिले, वही भक्त है। भक्त का अर्थ यह नहीं है कि भक्त को भगवान् से कुछ लेना है। जिसे भगवान् से कुछ लेना है, वह तो भक्त है ही नहीं।

आप जानते ही हैं कि आपसे कोई कहे कि आप हमें अपनी मोटर देदें, और फिर कहे कि हम आपके बड़े भक्त हैं। तो आप कहेंगे कि आप मेरे भक्त हैं कि मोटर के भक्त हैं? भक्त उसे नहीं कहते जिसे कुछ भी चाहिये। जिसे कुछ भी चाहिये वह भक्त नहीं है। आप कहेंगे कि जब हमें कुछ चाहिये ही नहीं तो फिर हम क्यों किसी को अपना मानें? यही तो भक्ति में विलक्षणता है कि कुछ न चाहने पर भी—वे अपने हैं, और अपने को प्रिय हैं। देखिये, अपना मान लेने का अर्थ क्या है? अपने को प्यारा लगे! तो जिसका कोई प्रिय है उसी का नाम भक्त है! और उस प्रियता का नाम ही भक्ति है। तो भक्ति क्या हुई? किसी की प्रियता!

अब यह प्रियता जो है वह शरीर-धर्म नहीं है। यह स्व-धर्म है। प्रियता अपने में होती है। यानी आपमें प्रियता जाग्रत होगी, न कि आपके तन में, न कि आपके मन में, न आपकी बुद्धि में। इन सबमें प्रियता जाग्रत नहीं होती। इन सब पर तो आपकी प्रियता का प्रभाव होता है। जैसे—आसक्ति अपने में होती है, दिखाई मन में देती है। दिखाई देती है मन में और होती है अपने में। उसी प्रकार जब अपने में प्रियता जाग्रत होती है, तब उसका प्रभाव शरीर पर होता है, इन्द्रियों पर होता है, प्राणों पर होता है। और इतना गहरा प्रभाव होता है कि सारा शरीर प्रीति के परमाणुओं से निर्मित हो जाता है। परन्तु यह भक्ति बिना निर्ममता, निष्कामता-पूर्वक आत्मीयता के प्राप्त नहीं होती। आप सोचते होंगे कि हम इन्द्रियों के द्वारा किसी अभ्यासपूर्वक भक्ति प्राप्त करेंगे—सो बात नहीं है।

भक्ति में समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, प्राण आदि सब अपने-अपने स्वभाव को छोड़कर प्रियता में परिवर्तित होजाते हैं। अथवा यों कहिये कि जब प्रेमी प्रेमास्पद को देखता है, तब उसकी सारी इन्द्रियाँ नेत्र में विलीन होती हैं। जब उनकी बात सुनता है, तो सारी इन्द्रियाँ श्रोत में विलीन होती हैं। जब उसके सम्बन्ध में सोचता है, तो सारी इन्द्रियाँ मस्तिष्क में विलीन होती हैं। प्रेमी की सर्व इन्द्रियाँ एक इन्द्री में विलीन होजाती हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों प्रियता बढ़ती जाती है, सबल होती जाती है, स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण शरीर—ये सब प्रीति में परिणत होते चले जाते हैं। अर्थात् शरीर की आकृति रहते हुये भी वह सारा शरीर प्रेम

के परमाणुओं से अर्थात् प्रेम की धातु से निर्मित होजाता है। इसी का नाम असल में भक्ति है। और वह एक प्रकार का रस है। और ऐसा अनुपम रस है कि जिस रस की माँग भगवान् को भी है। भक्ति-रस की मांग भगवान् को भी है। अर्थात् भक्ति भगवान् को रस देती है।

किन्तु कब प्राप्त होती है ? जब मुक्ति भी सन्तुष्ट न कर सके, तब प्राप्त होती है। अर्थात् जिसे मुक्ति भी खारी लगती है, उसे भक्ति प्राप्त होती है। और मुक्ति किसे प्राप्त होती है ? जिसके जीवन में सुख का प्रलोभन नहीं रहता अर्थात् जिसे सुख नहीं भाता। सुख जिसको अच्छा नहीं लगता, उसको मुक्ति मिलती है। और मुक्ति जिसे नहीं अच्छी लगती, उसको भक्ति मिलती है। अन्तर केवल इतना है कि सुख का प्रलोभन नाश होने से दु.ख की निवृत्ति होती है, और सुख का प्रलोभन नाश होता है। किन्तु मुक्ति का कभी नाश नही होता। क्यों ? इसलिये नाश नही होता कि मुक्ति में भी देह का अभिमान गल जाता है, देह से सम्बन्ध नहीं रहता। तो जब देह से सम्बन्ध नहीं रहता, तब कर्म में, चिन्तन में, स्थिरता में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। और जब इन सबमें जीवन-बुद्धि नहीं रहती, तब पराधीनता नहीं रहती। तो पराधीनता का अत्यन्त अभाव कहो, अथवा मुक्ति कहो एक ही चीज है। परन्तु उस स्वाधीनता को प्रियता के लिये, प्रियता के लिए समर्पित कर देता है, कौन ? भक्त !

आप कहेंगे, क्यों समर्पित कर देता है ? स्वाधीनता का अनुभव आप करते हो। पराधीनता से पीड़ित भी आप थे।

तो जो पराधीनता से पीड़ित था, वही न ! यह कहता है— मैं स्वाधीन हूँ। तो स्वाधीनता अपने लिए उपयोगी हुई, प्रभु के लिये उपयोगी नहीं हुई। लेकिन प्राप्त कैसे हुई ? स्वाधीनता आपको कैसे प्राप्त होती है ? प्रभु के दिये हुये विवेकरूपी प्रकाश के आदर से। मुक्ति विवेक-सिद्ध है न ! और विवेक आपको मिला है। जैसे—भुक्ति कर्म सापेक्ष है। जितने भोग हैं, वे सब कर्म की अपेक्षा रखते हैं। यानी कर्म के ही द्वारा भोगों की सिद्धि होती है। लेकिन एक बात तो बताइये, कर्म-सामग्री किस कर्म के द्वारा सिद्ध होती है ? जी ? क्या विचार है आपका ? क्या कर्म-सामग्री भी किसी कर्म का फल होसकती है ? अगर किसी कर्म का फल होसकती है, तो कर्म का अनुष्ठान कैसे हुआ ? तो यह मानना पड़ता है कि कर्म-सामग्री भी कर्त्ता को किसी ने दी है।

तो जिसने आपको कर्म-सामग्री दी है– भोग प्राप्ति के लिये, उसी ने आपको विवेक दिया है—मोक्ष प्राप्ति के लिये। ये जो मोक्ष मिलती है वह विवेक से मिलती है। तो विवेक जिसने दिया है—मुक्ति के लिये, और कर्म-सामग्री जिसने दी— भोग प्राप्ति के लिए, उसके सम्बन्ध में आपका अपना क्या विचार हुआ ? आप सोचिये तो सही। अगर आप यह मान लें कि नहीं, विवेक हमारी निज की उपज है। तो फिर यह तो बताओ कि अविवेक आपके जीवन में क्यों आया ? अगर विवेक आपकी निज की उपज थी, तो अविवेक क्यों आया ? आपने विवेक का अनादर क्यों किया ? और यदि कर्म-सामग्री आपकी अपनी चीज थी, तो कर्म का अन्त क्यों हुआ ? कर्म अखण्ड होना चाहिये था, विवेक अखण्ड होना चाहिये था।

किन्तु आपको मानना ही पड़ता है कि आपने अपने ही जीवन में कर्म-सामग्री के अभाव को भी अनुभव किया है। आपने अपने ही जीवन में अविवेक को भी अनुभव किया है। तो जब आप विवेक का अनादर करते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि विवेक आपकी उपज नहीं होसकती, आपकी उपार्जित वस्तु नहीं है, आपको मिली है।

तो जिसने शान्ति के लिये, स्वाधीनता के लिये विवेकरूपी प्रकाश दिया, और कर्त्तव्य पालन के लिये कर्म-सामग्री दी, उस प्रभु को आप अपना न मानें, उसमें आस्था न करें, उसमें श्रद्धा न करें, उसमें विश्वास न करें, तो क्या यह कृतघ्नता नहीं होगी ? इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् यह बात चाहते हैं कि आप उनको अपना मानलें। यह बात नहीं है। आप उनको अपना मानते हैं, तब आपको वे प्यारे लगते हैं। और उनसे अपनत्व की बात अलग। भगवान् ने तो आपको विवेक भी दिया है न! आप भगवान् को मत मानिये। और आप विवेकपूर्वक असंगता के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लीजिये। आप कर्म-सामग्री के सदुपयोग द्वारा भोग प्राप्त कर लीजिये।

लेकिन भोग के परिणाम को आप नहीं मिटा सकते। भोग का परिणाम आपको अपनी रुचि के विरुद्ध भोगना ही पड़ता है। भोग को आप प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन परिणाम से अपने को नहीं बचा सकते। तो भोग का परिणाम क्या है ?— रोग और शोक। और मुक्ति से आपके दुःख की निवृत्ति हो सकती है, आपकी पराधीनता मिट सकती है, आपके जीवन में-से जड़ता का अत्यन्त अभाव होसकता है। अर्थात् चिन्मय अमर जीवन से आप अभिन्न होसकते हैं।

आप अमरत्व में सन्तुष्ट हो जायँ। भगवान् आपसे कभी नहीं कहेंगे कि आप हमको अपना मानिये। किन्तु आप जानते हैं, मुक्ति का जो रस है, शान्ति का जो रस है, निर्विकारता का जो रस है—वह अखण्ड तो है, अविनाशी तो है, उसका नाश तो नहीं होता, परन्तु उसकी पूर्ति होती है। वह पूरा होजाता है। जैसे—जिस वक्त आपको निर्विकारता प्राप्त हुई निर्मम होने से, फिर आप यह नहीं कह सकते कि निर्विकारता के बाद निर्विकारता का कोई और भाग ऐसा रह गया है जो प्राप्त करना है। पूर्ति उसकी होती है। ऐसे ही स्वाधीनता की भी पूर्ति होती है। ऐसे ही निःसन्देहता की भी पूर्ति होती है। आप सन्देह-रहित होजाते हैं। किन्तु प्रियता जो है उसकी कभी पूर्ति नहीं होती। पूर्ति न हो, निवृत्ति हो—उसकी निवृत्ति भी नहीं होती। अब आप सोचिये, न तो प्रियता की कभी पूर्ति होती है, न उसकी निवृत्ति होती है, न उसमें क्षति होती है। जिसकी क्षति न हो, जिसकी निवृत्ति न हो, जिसकी पूर्ति न हो—मानना पड़ेगा वह असीम है, अनन्त है, नित्य है। क्योंकि निवृत्ति नहीं होती इसलिये नित्य है।

तो जो प्रियता असीम है, अनन्त है, नित्य है, उस प्रियता से उस अनन्त को रस मिलता है। मानव का निर्माण, सच पूछिये तो प्रभु ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया। सारे जगत् का निर्माण मानव के लिये। जगत् क्या है?—कामना-पूर्ति की सामग्री। और क्या है जगत्? और विवेक का निर्माण किया प्रभु ने मानव के लिये। क्योंकि भोग और मोक्ष मानव को मिल सकता है। वस्तुओं के द्वारा भोग मिल सकता है, विवेक के द्वारा मोक्ष मिल सकता है। तो समस्त वस्तुओं का

निर्माण प्रभु नें मानव के लिये किया। किन्तु मानव का निर्माण अपने लिये किया।

आप कहेंगे, क्यों किया ? इसलिये किया कि मानव ही एकमात्र ऐसा प्राणी है कि जो प्रभु को अपना कह सकता है, उनमें आत्मीयता स्वीकार कर सकता है—ऐसा प्राणी मानव है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो जगत् से निराश होकर, जगत् से असंग होकर अपने आप में सन्तुष्ट हो सकता है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो समस्त विश्व के दुःख को देख करुणित होसकता है, दूसरों के सुख को देख प्रसन्न हो सकता है।

ये तीन बातें—प्रभु में आत्मीयता, सुखियों को देख प्रसन्न होना, दुःखियों को देख करुणित होना और असंगतापूर्वक स्वाधीन होजाना—ये बातें मानव-जीवन में ही साध्य हैं। और किसी जीवन में साध्य नहीं होसकतीं। किन्तु इन तीनों में रस है। करुणा में भी रस है, प्रसन्नता में भी रस है। इसका अर्थ क्या हुआ ? उदारता में रस है, क्योंकि उदारता के ही दो भाग हैं—एक करुणा और एक प्रसन्नता। उदार-मानव ही सुखियों को देख प्रसन्न और दुःखियों को देख करुणित होता है।

तो उदारता में भी रस है और असंगता में भी रस है, निष्कामता में भी रस है। किन्तु प्रियता में जो रस है, वह अनुपम है, अलौकिक है, अनन्त है। और जीवन में रस की ही माँग है। इस दृष्टि से जब आप विचार करेंगे, तो जो सर्वोत्कृष्ट रस है, उसका नाम भक्ति है। और उसकी प्राप्ति किसको होती है ? जो प्रभु को अपना मानता है। यह समझ कर नहीं कि वे महान् हैं, जगत् के प्रकाशक हैं, आश्रय हैं, मालिक हैं। वह प्रभु को अपना नहीं मानता।

वह तो प्रभु के दिये हुए विवेकपूर्वक मुक्ति का आनन्द लेता है और कर्म-सामग्री से भोग का आनन्द लेता है। प्रभु को अपना वह मानता है जिसको भोग और मोक्ष नहीं चाहिये। भोग भी नहीं चाहिये, मोक्ष भी नहीं चाहिये। परन्तु इन दोनों में अन्तर क्या है ? भोग के न चाहने से भोग की निवृत्ति होती है। और मोक्ष के न चाहने से मोक्ष की निवृत्ति नहीं होती, प्राप्ति होती है। यानी मोक्ष को अगर आप न चाहें, तब भी आपको मुक्ति मिलेगी। लेकिन भोग को न चाहें तो भोग की निवृत्ति होगी।

तो निवृत्ति जिसकी होती है, उसका नाम भोग है, उसका नाम काम है, उसका नाम आसक्ति है। और प्राप्ति जिसकी होती है, निवृत्ति नहीं होती, उसका नाम मोक्ष है। तो उस मोक्ष से भी जिसमें अधिक रस है उसका नाम है—भक्ति।

एक बार एक भक्त से मिलने का अवसर मिला। तो मैंने उनसे चर्चा करते हुए कहा—"असंगता में भी रस है।" उन्होंने बड़े सुन्दरतापूर्वक यह कहा कि "ठीक है भैया"—भैया कहके सम्बोधित करते थे। "ठीक है भैया, हम सूखी रोटी खायँ, तो चटनी से क्यों न खायँ ?" असंगता में जो रस है वह रस तो प्रियता में है ही, परन्तु उसमें नित-नव वृद्धि है।

श्रम-साध्य भक्ति का रस नहीं है, विचार-साध्य भक्ति का रस नहीं है। विचार-साध्य मुक्ति का रस है। निष्कामता से साध्य शान्ति रस है। किन्तु आत्मीयता से साध्य भक्ति का रस है। और वह रस कितना अनुपम है ! कितना विलक्षण है ! इस सम्बन्ध का ठीक परिचय कब होता है, जब आप किसी भक्त के चरित्र को अपने सामने रखते हैं। ●

२७

ब

आपने सुना होगा कि भगवान् राघवेन्द्र के जो परिकर हैं, जो उनके भक्त हैं, उनमें एक कैकई भी हैं। आप चौंक जायेंगे कि अरे! वे क्या उनकी भक्त होंगीं, जिनने उनको वन भेज दिया। लेकिन एक बात तो सोचिये, यदि भगवान् राम के चरित्र में-से वन का भाग निकाल दिया जाय तो भगवान् शिबिरी के बेर खा सकते हैं क्या?—नहीं। जी? नहीं। कोल-भीलों के कन्द-मूल फल खा सकते हैं क्या? ऋषी-मुनियों के आश्रम में जाकर दर्शन देसकते हैं क्या? देवताओ का काम कर सकते हैं क्या? भगवान् राम के चरित्र में जो कुछ महत्व है वह वनवासी राम का है कि राजाराम का है?—वनवासी राम का। अच्छा! राम के पार्षदों में-से यदि महारानी कैकई को निकाल दिया जाय तो राम वन जा सकते हैं क्या? आप लोग सोचते होंगे कि कैकई ने बड़ी भूल की कि जो राम को वन भेजा। भूल नहीं की। राम के मन की बात पूरी की अपने को कलंकित करके।

अब आप सोचिये, भक्ति-रस कैसा है! राम ने स्वयं कैकई से कहा—"माँ, तुम मुझे वन भेज दो।" कैकई बड़ी हिचकिचाईं, कहने लगीं—"राम! प्यारे राम! मैं वन तो भेज दुंगी। पर एक बात है कि तुम जब चाहते हो, तो मैं

कलंक सहूँगी, अपमान सहूँगी। क्यों ? तुम्हारे मन की बात पूरी हो— यों। परन्तु तुम चलते समय, वन जाते समय सुमित्रा जी से मत मिलना।” वे उस समय प्राइम मिनिस्टर थीं अवध के राज्य की। और यह नियम रहा है कि जो छोटा होता है न। उसका अधिकार ज्यादा होता है। बड़े में बड़ापन उदारता के कारण है, बड़े होने से नहीं। आज तो हम सोचते हैं कि हम बड़े हैं, इसलिये हमको आदर दो। यह प्राचीन प्रणाली नहीं है। और आपनें देखा होगा कि गोस्वामीजी नें वन जाते समय कहीं नहीं दिखाया कि भगवान् राम सुमित्रा जी से मिलने गये।

अब राज-तिलक होने वाला है। अवध में बड़ा उत्साह होरहा है। बड़ा उत्साह है हर एक के हृदय में कि कल राम राजा होंगे। और महाराजा दशरथ ने मन्त्रियों से, प्रजा से, गुरुजनों से परामर्श लेकर राम को राजा बनाने का निर्णय किया था। मन माने ढंग से नहीं कर लिया था। किन्तु हुआ क्या ! महारानी कैकई ने कहा—“मेरा जो वचन आपके पास है, वह पूरा कर दो। मैं कुछ चाहती हूँ।” बोले, ‘क्या चाहती हो ?’—“राम को वन भेज दो, भरत को राज्य दो। और चौदह वर्ष के लिए वन भेजो।” और वह भी कैसे ? वन में भी जाते दल-बल के साथ तो जहाँ राम तहाँ अवध हो जाता। सो नहीं—‘तापस भेष, विशेष उदासी।’ इसमें जरा विचार करना चाहिए। ‘तापस भेष, विशेष उदासी—चौदह बरस राम बनवासी।’

“तपस्वियों का भेष बनाकर वन में जायें, राजा बन कर वन में न जायें। राजकुमार बन कर वन में न जायें।” यदि

राम राजकुमार बनकर जाते तो जहाँ राम रहते वहाँ अवध होजाती। विचार कीजिये। "और आजीवन के लिए न जायँ। चौदह बरस के लिये जायँ। और भरत को राज्य दिया जाय।"

अगर उन्हें अपने लड़के को राज्य दिलाना था तो केवल यही माँग लेतीं कि भरत को राज्य दो और सदैव के लिये राज्य दो। भला, क्या कोई भी आदमी, कोई भी माँ अपनी सन्तान से अपरिचित होगी? क्या महारानी कैकई इस बात से अपरिचित थीं कि श्री भरतजी में और राम में कितना प्रेम है? कभी नहीं, भली भाँति परिचित थीं। राम को वन की आज्ञा होगई। महाराजा दशरथ अत्यन्त अधीर होगये, व्याकुल होगये। जो पत्नी पति के प्यार की पात्र है वह पति के द्वारा अपमानित होने लगी। जो कुछ कह सकते थे, कहा, किया, बचा के नहीं रखा। आप जानते हैं, पुत्र के द्वारा माता पूज्य है। भरत के द्वारा भी कैकई का अपमान हुआ, पति के द्वारा भी अपमान हुआ।

लेकिन आप देखेंगे, प्रेमियों के जीवन में, अम्मा कौशिल्या ने, लखनलाल ने किसी ने अपमान किया क्या?—नहीं अपमान किया। क्योंकि प्रेमियों के जीवन में किसी से द्वेष होता ही नहीं। यह प्रेम जो है, इसकी अनेक श्रेणियाँ हैं। इसीलिये इसकी पूर्ति नहीं होती। तो महाराज दशरथ ने जब वन की आज्ञा दे दी। अब प्रातःकाल अम्मा कोशिल्या इस उत्साह में बैठीं थीं कि राम लला आवेंगे, मैं उनका आरता उतारूंगी, पूजन करूंगी, क्योंकि आज मेरा लाल राजा बनेगा।

आये राम, किन्तु बड़े संकोच में। राम बड़े संकोच में कि माँ के हृदय को कहीं आघात न पड़ जाय। कहने लगे – "पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। पिता नें मुझे वन का राज्य दिया है।" अम्मा कहने लगीं– "देखो राम! यदि पिता ने तुमको वन का राज्य दिया है, तो मैं माँ हूँ, मैं अवध का राज्य दे सकती हूँ। लेकिन अगर तुम्हारी कैकई मैया ने वन का राज्य दिया है, तो वन चले जाओ।" कहीं विद्रोह नहीं हुआ, संघर्ष नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? सब जानते थे कि कैकई को राम अत्यन्त प्यारे हैं। महाराजा दशरथ ने भी कहा—"अरी कैकई! तेरी क्या बात है? क्या तू सोचती है? तुझे तो राम बड़े प्यारे लगते थे। तू क्यों वन भेजती है?"

इस रहस्य को तो प्रेमी ही जानते हैं कि कैकई इसलिये वन भेजती हैं कि राम चाहते हैं कि मैं वन जाऊँ, राम चाहते हैं कि मैं वन जाऊँ। महाराज! यह समाचार लखनलाल जी नें सुना, महारानी सीता ने सुना। लखनलाल ने कहा—"मैं भी साथ चलूंगा।"

मैं जब तीसरे दर्जे में पढ़ता था तब पढ़ा था – "रहौ तात, अस नीति विचारी।" यहाँ से आरम्भ होता है। बहुत समझाया राम नें। और कहते-कहते यहाँ तक कह दिया राम ने—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी। अरे भैया! देखो, अगर प्यारी प्रजा दुःखी होगी, तो राजा नरक में जायेगा। तुम प्रजा के लिये सेवा करो। माता-पिता वृद्ध हैं, उनकी सेवा करो। तुम वन मत जाओ।" लखनलाल ने कहा—"प्रभू! एक बात पूछता हूँ कि यह जो आप धर्म और नीति का उपदेश करते हैं, यह तो उसे करें,

जिसे कुछ चाहिये।" अधीर होकर लखनलाल ने कहा—"मन, क्रम, वचन, चरण रत होई; कृपा सिन्धु परिहरहिं कि सोई।" राम का मुँह बन्द होगया। तब कहा—"अच्छा भैया, चलो।"

महारानी सीता ने कहा—"कै तन-प्रान, कि केवल प्रान ! या तो तन और प्राण दोनों आपके संग जायँगे, अथवा केवल प्राण जायेंगे।" राम चुप होगये। आप जानते हैं, उर्मिला जी भी जनकपुरी की हैं, महारानी सीता की सहचरी हैं, सखी हैं, अत्यन्त अभिन्न हैं। जब एक बहन यह आदर्श स्थापित करती है कि पति के साथ जाना चाहिये। उर्मिला चुप है। क्यों चुप हैं ? प्रेम का यह अर्थ नहीं है कि प्रियतम हमारे मन की बात करें। प्रेम का अर्थ यह नहीं है। उर्मिला ने सोचा—"मेरा पति सेवक बनकर जा रहा है। सेवक को नारी रखने का अधिकार नहीं है।" तो पति के धर्म की रक्षा के लिये उर्मिला जी ने अपने प्रिय के वियोग की असह्य वेदना मूक होकर सहन की महाराज ! मूक होकर सहन की।

राम वन को चले गये। अवध में हा-हाकार होगया ! महाराज दशरथ तो इतने अधीर हुये, इतने बेचैन हुये राम के वियोग से कि सुमन्त से कह दिया कि तुम वन में घुमा-फिरा कर इनको लेआना, तो मेरे प्राण बच सकते हैं। राम ने महाराजा की इस बात की बिल्कुल परवाह नहीं की। और कह दिया—"खोज मार रथ हांको ताता। हे तात, हे सुमन्त जी ! पिता के समान हैं आप ! ऐसे रास्ते से चलो, जो लोगों को निशान नहीं मिलें।"

परन्तु जब भरत जी अवध में आये। और उन्होंने देखा कि हाय ! राम वन को चले गये, पिता परलोक सिधार गये

और सारे अवध में हा ! हाकार !! है। आप देखिये, एक ओर से सबका मत है भरत के साथ—राज्य करो, पिता ने दिया ही है, कैकई माँ ने दिया ही है। अम्मा कौशिल्या ने कहा कि राज्य करो। गुरु वशिष्ट ने कहा कि राज्य करो। मन्त्रियों नें कहा कि राज्य करो, प्रजा ने कहा कि राज्य करो। किसी का विरोध नहीं है एक तरफ से। और ये सब धर्म हैं—प्रजा की बात मानना, मन्त्रियों की बात मानना, माता की, पिता की, गुरू की बात मानना—ये सब धर्म हैं। सारे धर्म श्री भरतजी के सामने मौजूद हैं। किन्तु उनके हृदय में एक व्यथा है। और वह व्यथा क्या है ?—हाय ! मैं अवध में राज्य करू और भगवान् राम नंगे पैरों वन में विचरें ! महारानी सीता नंगे पैरों वन में विचरें ! भैया लखनलाल नंगे पैरों वन में विचरें !—यह व्यथा भरत के लिये असह्य है।

भरत ने कहा कि मैं बड़ा ही पातकी हूँ, अधम हूँ कि मेरे लिये प्रभु वन में गये ! मैं उस समय तक कुछ निर्णय नहीं कर सकता, जिस समय तक प्रभु से न मिल लू। और वे जब मिलने के लिए चित्रकूट आये हैं, उनकी दशा का वर्णन करें तो बहुत समय होजाय। और मुझे मालूम भी नहीं। मुझ जैसे अनपढ़े को क्या मालूम भाई ! किन्तु एक बात आप देखेंगे कि जब राम और भरत का मिलन हुआ है, तब गोस्वामी जी ने एक बात बड़ी सुन्दर कही—"परम प्रेम पूरन दोऊ भाई।" (जीव और ब्रह्म) मन, बुद्धि, चित अहमति विसराई।" दोनों प्रेम से पूर्ण हैं। दोनों ही में न अहम् है, न बुद्धि है, न चित्त है। बेमन के दोनों होगये।

जब बेमन के दोनों होगये तब भरत का मन रघुनाथ जी के पास आगया और रघुनाथ जी ने कहा—"भैया भरत ! जो

तुम कहोगे, सो मैं करूंगा।" आप जानते हैं, यह सुनकर देवता लोग घबरा गये। ऋषि-मुनि आश्चर्य में डूब गये— हाय ! हाय !! अब क्या होगा ! क्योंकि सब जानते थे कि भरत को यह दुःख था कि प्रभु नंगे पैरों वन में न रहें, अवध में राज्य करें और मैं आजीवन वन में वास करूं। भरत जी अपने व्यक्तिगत सेवा-जनित सुख से अपने को अलग रख सकते थे, दर्शन-जनित सुख से अपने को अलग रख सकते थे, किन्तु प्रभु नंगे पैरों वन में घूमें—यह व्यथा भरत के लिए असह्य थी। भगवान् ने कह दिया—"भैया भरत ! जो तुम कहोगे, सो मैं करूंगा।"

अब आप देखिये, भक्त और भगवान् में कितना अगाध प्रेम है ! ये दोनों ही प्रेमी हैं। भगवान् ने जब अपने मन को छोड़ दिया, अब भरत को और तकलीफ हुई। भरत कहने लगे—"हाय ! हाय !! प्रभु मुझ अधम प्रेमी के लिए आप अपनी मर्यादा का उल्लंघन करें ! प्रेमी पिताजी थे, जिन्होंने आपके वियोग में प्राणों का परित्याग कर दिया। प्रेमी भैया लखनलाल हैं, जो आपका वियोग नहीं सह सकते। प्रेमी जगदम्बा सीता हैं, जो आपके साथ वन में विचरती हैं, नंगे पैरों घूम रही हैं। उनके लिए प्रभु ! आपने अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। और मुझ अधम प्रेमी के लिए आप अपनी मर्यादा का उल्लंघन करते हैं ! यह व्यथा मुझसे नहीं सही जाती !

अब आप देखिये। प्रभु का अपना मन भरत के पास आगया, भरत का मन प्रभु के पास है। अन्त में प्रभु अधीर होते हैं, और कहते हैं—"भैया भरत ! तुम बताओ, मैं क्या

करूं ?" अहं भक्त पराधीन—यह भक्ति रस की महिमा है। —"तुम बताओ, भैया भरत ! मैं क्या करूं ?" भरत कहने लगे—"हे प्रभु ! अब तो यही चाहता हूँ कि यदि वन की अवधि पूरी होने पर, समय पूरा होने पर, आप अवध में नहीं पधारेंगे, तो भरत के प्राण नहीं पायेंगे।" राम ने कहा—"अच्छा भैया !" उनकी चरण-पादुका ली और उनको राजा माना। और एक तपस्वी की भांति, वनवासी की भांति भरत निरन्तर राम का काम करते रहे।

भक्ति आपको संन्यासी नहीं बनाती। भक्ति आपको वर्तमान कार्य से नहीं छुटाती। क्योंकि भरतजी ने सारा राम का काम किया। पर अपना काम किया ? आप जानते हैं, प्रेमी वह नहीं होते कि भगवान् तो प्यारे लगें और संसार खारा लगे—उसे प्रेमी नहीं कहते। आपने सुना होगा कि एक बार अम्मा कौशिल्या अत्यन्त व्याकुल होगईं। प्रेमियों की दशा देखिये। अम्बा कहती हैं—"सुमित्रे ! हे सखी ! तू सच बता, यह राम का वन-गमन सच है कि झूठ है ? मैं नहीं जान पाती। क्यों ? 'लगे रहत मेरे नयनन आगे, राम-लखन और सीता। तौ हूं न मिटत डाह जा उर को, विधि जो भये विपरीता॥ निरन्तर मेरी दृष्टि में राम, लखन और सीता हैं। पर सखी ! मेरे हृदय का डाह नहीं मिटता। अब सोचती हूँ, 'दुःख न रहत रघुपतिहि विलोकत।' रघुनाथजी को देखने-मात्र से दुःख नहीं रहता—और "तन न रहे बिन देखे, बिना देखे प्राण नहीं रहता। सखी ! ऐसी उलझ गई हूँ। मैं देखती भी हूँ, पर दुःख नहीं मिटता। यदि राम का वन-गमन सत्य है तो प्राण क्यों ? प्राण क्यों ?"

अम्बा अधीर होती हैं। उसी क्षण मुर्छित होजाती हैं। फिर होश आता है, बाहर को निकलती हैं। और जब निकलती हैं तो राम के घोड़ों पर उनकी दृष्टि पड़ती है। क्या घोड़ों की दशा है ! जिस ओर राम गये हैं, उसी ओर घोड़े टकटकी लगाये देख रहे हैं, आंसू बह रहे हैं, तृण मुख में हैं, न निगल पाते हैं, न उगल पाते हैं। घोड़ों की इस अधीर व्याकुल दशा को देख अम्बा अपना दुःख भूलती हैं। और घबराकर कहती हैं—"ओरे पथिक ! ओरे पथिक ! अरे भैया सुनिये तो सही जरा।" बोले, 'माँ क्या बात है ?' "देख-देख, तू वन में जा रहा है न ! तो देख, राम से कहना कि वे एक बार इन घोड़ों की दशा देख जायँ। मुझसे इनकी दशा नहीं देखी जाती।" राम के घोड़े दुःखी हैं, अम्बा दुःखी हैं।

तात्पर्य क्या ? भक्ति-रस में सर्वात्म-भाव है, अपने सुख की गंध भी नहीं है। आप जानते हैं, जिस समय लंका में विजय हुई और श्री विभीषण जी ने कहा—"प्रभु, नगर में पधारो।" कहने लगे—"भैया विभीषण ! तुम नहीं जानते। एक दिन रह गया है, यदि मैं अवध नहीं पहुंचा, तो भैया भरत का प्राण नहीं रहेगा।" बिल्कुल यही दशा श्री भरतजी की है। "हाय ! हाय !! एक दिन रह गया, कोई समाचार नहीं मिला। यदि प्रभु नही आये, तो ये अभागे प्राण नहीं रहेंगे !"

अब कौन प्रेमी है ? कौन प्रेमास्पद है ? इसका पता प्रेम के साम्राज्य में है नहीं। जहाँ एक दो होते हैं वहाँ भक्ति रस है। जहाँ दो एक होते हैं वहाँ ज्ञान का रस है। रस ज्ञान में भी है। रस भक्ति में भी है। रस शान्ति में भी है। रस करुणा

में भी है। रस प्रसन्नता में भी है। किन्तु भक्ति में जो रस है वह कैसा रस है! उदाहदण लीजिये—किसी को बड़ी ही तीव्र प्यास लगी हो, अत्यन्त तीव्र प्यास लगी हो, और बड़ा ही मधुर-सुन्दर जल हो, शीतल जल हो, किन्तु प्यास कैसी हो? जो बुझे नहीं! जल कैसा हो? जो घटै नहीं! पेट कैसा हो? जो कि भरै नहीं! आप क्या कहेंगे? आप कहेंगे कि प्रत्येक घूंट पर नित-नव रस है। इस भक्ति का ऐसा ही अनुपम रस है। इसमें मिलन और वियोग कुछ अर्थ ही नहीं रखता। मिलन में कोई भक्ति की पूर्ति होती हो; वियोग में कोई भक्ति की क्षति होती हो—ऐसा नहीं है। यह तो नित-नव रस है, अगाध रस है, अनन्त रस है। और उसकी प्राप्ति एकमात्र शरणागति से होती है।

आप कहेंगे, शरणागति क्या? विचार कीजिये। एक शरणागत भक्त की बात से आपको पता चल जायेगा। आपने सुना ही होगा कि श्री विभीषण जी ने अपने को अनाथ अनुभव किया। ऐसा अनुभव किया कि मेरा कोई है नहीं। अपने को असमर्थ अनुभव किया, समर्थ अनुभव नहीं किया। किन्तु आप जानते हैं, प्रभु ने किसी को अनाथ नहीं बनाया है। क्यों? जगत् का नाथ रहते हुए भला, कोई अनाथ होसकता है! परन्तु जब मानव कहो या साधक कहो, मिले हुए विवेक का आदर नहीं करता, मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करता, अपितु दुरुपयोग कर बैठता है अथवा करने लगता हैं, तब वह अपने को असमर्थ पाता है। और उस असमर्थता की जब पीड़ा होती है तब अपने को अनाथ अनुभव करता है। इसी दशा में श्री विभीषण जी ने

श्री हनुमन्तलाल जी से जब भेंट हुई तब एक प्रश्न किया। और वह प्रश्न यह किया–"कहउ तात मोहिं जानि अनाथा, करिहहिं कृपा भानुकूल नाथा? क्या मुझ अनाथ पर भी प्रभु कृपा करेंगे?"

हनुमन्तलाल ने कहा—"क्यों अनाथ हो भैया तुम?" तो अपना परिचय देते हैं, अपनी दशा बताते हैं—"तामस तन कछु साधन नाहीं, प्रीति न पद सरोज मन माहीं। मैं कर्म का, ज्ञान का और प्रेम का अधिकारी नहीं हूँ। इसलिए मैं अनाथ हूँ।" हनुमन्तलाल जी ने सुना और कहा—"कहहु कबन मैं परम कुलीना? मैं कौनसा परम कुलीन हूँ?" अब अपनी दशा बताते हैं—"कपि चंचल सबही विधि हीना।" यह अपनी असमर्थता का परिचय, अपने दोषों का परिचय। आगे चलकर हनुमन्तलाल कहते हैं—"प्रात लेइ जो नाम हमारा, मिलै न ता दिन ताहि अहारा! अस मैं अधम सखा सुन। हे सखा! मैं ऐसा अधम हूँ। मोहू पै रघुवीर, कीन्हेहु कृपा सुमिरि गुण, भरे विलोचन नीर। "यहि कहत राम गुण ग्रामा, पावा अनिर्वाच्य विश्रामा!"

तात्पर्य क्या?—अपनी असमर्थता से पीड़ित होना और उनकी महिमा में आस्था होना। जब श्री विभीषण जी ने सुना अपने हनुमन्तलाल जी कहो, चाहे उनके गुरुदेव कहो, गुरू से सुना कि प्रभु कृपा करते हैं। गुरू ने यह नहीं कहा, कि तुम उनका नाम लेना, कि तुम उनका ध्यान करना, कि तुम उनका भजन करना। जैसा साधक का प्रश्न था वैसा ही गुरू का उत्तर था। उनमें सन्देह यह था, क्या मुझ अनाथ पर कृपा करेंगे! उन्होंने कहा—"अनाथ पर कृपा करते हैं। प्रभु

अनाथ पर कृपा करते हैं। जो अपनी असमर्थता से पीड़ित है उस पर प्रभु कृपा करते हैं।" आस्था होगई।

आस्था होने के बाद, आपने सुना ही होगा कि जिस समय श्री विभीषण जी श्री रघुनाथ जी से मिलने गये हैं तो उन्होंने यह परिचय नहीं दिया कि मैं इतना जप करके आया हूँ, कि इतनी देर ध्यान करके आया हूँ। बड़े सरल ढंग से कहा— "श्रवण सुजस सुनि आयहुँ। मैंने अपने कानों से आपकी महिमा को सुना।" क्या सुना ?—"प्रभु भंजन भय-भीर। प्रभु भय को हर लेते हैं, दुःख को हर लेते हैं, यह सुन करके मैं आया हूँ।"

सुग्रीव जी उनके सखा हैं, और उस समय के सेनापति हैं। सुग्रीव ने कहा कि प्रभु ! रावण का भाई आपसे मिलने आया है। प्रभु ने कहा - "तो क्या करना चाहिये ?" क्योंकि जिसको पद दिया प्रभु ने, उसका परामर्श लिया। उसने कहा— "जानि न जाय निशाचर माया। न जाने, क्यों आया है ! उसको बांध कर रख लिया जाय।" रघुनाथजी अधीर हो गये। कहने लगे—"सखा नीति तुम नीकि विचारी। तुम्हारी बड़ी सुन्दर नीति है। पर क्या करूं ? मम प्रण शरणागत भय हारी। मेरा प्रण है कि मैं शरणागत के भय को हर लेता हूँ। और ये जो तुम कहते हो कि निशाचर बड़े ऐसे और ऐसे होते हैं।"—प्रभु ने यह नहीं कहा कि मैं उनका नाश कर दूंगा प्रभु ने कहा—"उनके लिए लखनलाल पर्याप्त हैं।"

भक्तों पर जब दुःख होता है तब प्रभु कहते हैं—"सखा सोच त्यागहु बल मोरें।" उनके ऊपर जब आपत्ति होती है तब प्रभु नहीं कहते। अर्थात् उनका ऐश्वर्य, प्रेमास्पद का

माधुर्य्य किसके लिए है ?—प्रेमियों के लिए है, भक्तों के लिये है। प्रभु ने अनेक बार कहा—"सखा सोच त्यागहु बल मोरे। तुम मेरे बल पर निश्चिन्त होजाओ, निर्भय होजाओ।" और जब उनकी अपनी व्यक्तिगत समस्या है, तब कहते हैं—"भैया लखनलाल पर्याप्त हैं।" आप जानते हैं, हनुमानजी गद्‌गद् होगये। क्योंकि गुरू जो होता है न ! वह प्रभु की महिमा से परिचित होता है, उसको जानता है। और शिष्य जो होता है, वह गुरू की बात को मानता है, जानता नहीं है। जैसे विभीषणजी ने इस बात को मान लिया था, श्री हनुमन्तलाल जी इस बात को जानते थे।

तो आते ही कह दिया—"आओ लंकेश !" लंका का राज्य दे दिया। किन्तु विभीषण बड़े संकोच में डूब गयें, बड़े सकुचा गये। और कहनें लगे—"उर कछु प्रथम वासना रही। पहले मेरे मन में वासना थी, किन्तु प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।"

इससे क्या प्रकाश मिलता है ? कि "मैंने दोषावस्था में आपकी शरणागति स्वीकार की। आप में आस्था की। निर्दोष होकर नहीं, दोषयुक्त दशा में मैंने आस्था की।" यह असमर्थ साधक की बात है—आस्था। प्रभु ने कहा—"यदपि सखा तव इच्छा नाहीं। तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। मैं मानता हूँ कि तुझे इच्छा नहीं है। परन्तु मम् दर्शन अमोघ जग माहीं।" क्या सार निकला ? कि जब मानव अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर प्रभु की महिमा में आस्था करके एक बार यह स्वीकार कर ले—"प्रभु मेरे हैं। मुझ पर कृपा करेंगे। वे कृपा करते हैं।" इस आस्था मात्र से ही शरणागति सिद्ध होती है। और शरणागत होने पर प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी होता है। यह भक्ति रस की महिमा है। ●

२८

अगर आप अपनी पसन्दगी बदल दें, सम्बन्ध बदल दें तो मन बदल जाता है। हम चाहे जैसे रहें और मन बदल जाय, सो मन बदलता नहीं।

इन्द्रियाँ न बहिर्मुख हैं, न अन्तर्मुख। जब हम बहिर्मुख होना पसन्द करते हैं, वे बहिर्मुख होती हैं। और जब हम अन्तर्मुख होना पसन्द करते हैं, वे अन्तर्मुख होती हैं।

मनुष्य को प्रभु ने संसार का दास बनने के लिये नहीं बनाया, संसार के काम आने के लिये बनाया है। प्रभु ने अपना दास बनाने के लिये भी हमको नहीं बनाया है, प्रेमी बनने के लिये बनाया है, दोस्त बनने के लिये बनाया है।

परमात्मा की मांग से संसार का आकर्षण नाश होता है, संसार नहीं नाश होता। संसार का आकर्षण नाश होने के बाद संकल्प का नाश होजाता है।

संकल्प का नाश होने से निर्विकल्पता आजाती है। और निर्विकल्पता में जीवन है, रस है, स्वाधीनता है।

२८

अ

प्रवचन :

श्रोता :—मन को बस में करने के उपाय क्या हैं ?

स्वामीजी :—बात असल में यह है न ! कि मन में वही बात आती है, जिन बातों को आप पसन्द करते हैं, जिनसे सम्वन्ध रखते हैं। आप अपनी पसन्दगी बदल दें, सम्बन्ध बदल दें तो मन बदल जाता है। और हम चाहे जैसे बने रहें और मन बदल जाय, सो मन बदलता नहीं हैं। अपने को बदलने से मन बदलता है। जिस चीज की आप आवश्यकता अनुभव करते हैं उधर मन चला जाता है। जिस चीज से आप सम्बन्ध तोड़ देते हैं, मन हट जाता है। जिससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, मन लग जाता है। एक तो यह बात है मूल।

दूसरी स्थूल बात यह है कि आप जरूरी काम पूरा करदें और बिना जरूरी काम छोड़ दें, तब भी मन बस में होजाता है। तीसरी बात है कि जो नहीं करना चाहिए सो न करें और जो नहीं कर सकते, वह न करें, और जो करना चाहिये सो करदें, तब भी मन बस में होजाता है।

केवल प्रभु को ही अपना मानें, तब भी मन बस में होजाता है। अपनी सबसे बड़ी आवश्यकता को अनुभव करें, तब भी

मन बस में होजाता है। अब कौनसा किसको स्यूट करे, पता नहीं। जो जिसके अनुरूप पड़े, करें।

अपनै को बदले बिना मन बस में होजाय—ऐसा उपाय मुझे मालूम नहीं है। असल में जब मनुष्य पराधीनता को पसन्द कर लेता है, तब वह मन के अधीन होजाता है। और जब स्वाधीनता को पसन्द कर लेता है, तो मन उसके अधीन हो जाता है। एक बात। दूसरी बात है कि जो उसे स्वाधीनता मिली है न! जीवन में जो मनुष्य को स्वाधीनता मिली है, यदि उस मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग करे, दुरुपयोग न करे, तो उसे स्वाधीन होने में बहुत सुविधा होजाती है।

वैसे तो दो ही बातें हैं अपने सामनें—हम पराधीन नहीं रहेंगे और मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करेंगे। एक बात का सम्बन्ध संसार के साथ है और दूसरी बात का सम्बन्ध अपने साथ है। जिस बात का सम्बन्ध अपने साथ है, उससे परमात्मा मिल जाता है। और जिसका सम्बन्ध संसार के साथ है, उससे विश्व-शान्ति का प्रश्न हल होजाता है। तो लौकिक उन्नति भी होजाती है और परमार्थिक उन्नति भी होजाती है। दोनों होजाते हैं, यदि हम मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करें।

सर्वांश में तो स्वाधीनता मिली नहीं है, आंशिक स्वाधीनता मिली है। जैसे आप बोल सकते हैं, कटु भी बोल सकते हैं, मधुर भी बोल सकते हैं। यह आपकी स्वाधीनता है—कटु न बोलें, मधुर ही बोलें। सत्य भी बोल सकते है, मिथ्या भी बोल सकते हैं। मिथ्या न बोलें, सत्य ही बोलें। बल जो मिला है, कुछ कर सकते हैं। तो बुराई न करें, भलाई करें। आप इस बात में

स्वाधीन हैं। तो जिन-जिन बातों में हम स्वाधीन हैं आंशिक रूप से, उस स्वाधीनता का कभी जीवन में दुरुपयोग न करें। इसी का नाम है—धर्म विज्ञान। इसी का नाम है—कर्त्तव्य विज्ञान, स्वाधीनता का सदुपयोग।

और हम पराधीन रहना पसन्द न करें, स्वाधीन होजायँ, इसी को कहते हैं अध्यात्म-विज्ञान। धर्म विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान जब दोनों आजाते हैं। इन दोनों का मिल कर फल होजाता है कि मनुष्य को परमात्मा मिल जाता है। चाहें तो, न चाहें तो जरूर मिल जाता है। ऐसा है। अब आप सोच लीजिये। इन दो बातों पर विचार करने को आप तैयार हैं क्या? एक तो पराधीन नहीं रहूँगा, और एक स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूंगा। मानव-जीवन का मूल मन्त्र है यह—दो वाक्यों में।

ऐसी कोई बुराई कभी जीवन में उत्पन्न ही नहीं होती जो हमारे पराधीन होने से न हो। यानी पराधीनता को हम पसन्द कर लेते हैं, अच्छी लगती है, भाती हैं। तो पराधीनता हमको अच्छी न लगे, स्वाधीनता हमें प्रिय हो, स्वाधीनता हमें पसन्द हो। और जो स्वाधीनता हमें मिली है किसी आंशिक रूप में, उसका हम सदुपयोग करें, दुरुपयोग न करें—दो ही बातें हैं जीवन में बढ़िया से बढ़िया। और ये मानव-जीवन की बात हैं दोनों।

मनुष्य इन दोनों बातों में स्वाधीन है। स्वाधीन होने में भी स्वाधीन है और मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग में भी स्वाधीन है। अगर वह स्वाधीन नहीं होना चाहता है, तो यह उसकी अपनी भूल है। अगर वह स्वाधीनता का दुरुपयोग

करता है, तब भी तो अपनी भूल है। यह बेवसी की बात नहीं है, मजबूरी की बात नहीं है, विवश होकर नहीं करता है ऐसा, अपनी मौज से करता है। भूल से करता है स्वाधीनता का दुरुपयोग भी और पराधीनता की पसन्दगी भी।

श्रोता :—महाराज जी ! स्वाधीनता स्वाभाविक तो है, अपना स्वरूप है, पर मिलती नहीं। और पराधीनता जो है अपना स्वरूप नहीं है, बाहर से आई है। पर संस्कार……?

स्वामी जी :—ठीक है ! पर वह प्रक्रिया मुझे मालूम नहीं है। इसलिये मैं उस ढंग से कह नहीं पाता हूँ। मुझे यह प्रक्रिया मालूम है कि यदि हम स्वाधीन होना पसन्द करें, तो स्वाधीन होसकते हैं। और मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करें, तो संसार के काम आसकते हैं। और स्वाधीन होजायँ तो अपने काम आ सकते हैं, प्रभु के काम आ सकते हैं। ऐसा है।

श्रोता :—महाराज जी ! यहाँ तक तो ठीक है कि परमात्मा ने वड़ी अनुकम्पा करके मानव शरीर दे दिया। परन्तु हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुख क्यों बना दिया ?

स्वामी जी :—देखो, देखो ! यह तो परमात्मा से पूछने की बात है। क्योंकि उसने बनाने से पहले मेरी राय तो ली नहीं थी। मैं इसका क्या उत्तर दूंगा ?—(हास्य) लेकिन आपसे ठीक कहता हूँ कि ऐसी बातें मैंने बहुत-सी सुनी हैं। ठीक होंगीं। लोगों ने वड़ी ईमानदारी से लिखीं हैं। पर वास्तव में न इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं और न अन्तर्मुख। अब शरणानन्द की फिलोसोफी सुनो। शरणानन्द की फिलोसोफी में इन्द्रियाँ न बहिर्मुख हैं, न अन्तर्मुख। जब आप बहिर्मुख होना पसन्द

करते हैं, तो वे बहिर्मुख होती हैं। और जब हम अन्तर्मुख होना पसन्द करते हैं तो वे अन्तर्मुख होतो हैं। इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से आपकी स्वीकृति के बिना, आपके सहयोग के बिना कुछ नहीं करतीं। इसलिये मैं उन्हें अपराधी नहीं मानता हूँ। जब उन्हीं को अपराधी नहीं मानता, तो उनके बनाने वाले की भूल कैसे मान लूं ? आप सोचिये। यह मुझमें साहस नहीं है कि मैं सृष्टि के बनाने वाले को अपराधी मान लूं और भूल मान लूं। ऐसा मैं नहीं मानता।

श्रोता :—असंख्य जन्मों से आदमी का जन्म होरहा है। इन्द्रियाँ -…?

स्वामीजी :—आप मेरी भाषा बोलो। अपनी भाषा मत बोलो। अनेक जन्मों का तुमको ज्ञान तो है नहीं, सुन कर मान लिया है। हुआ होगा। ठीक है, लेकिन इस जन्म की बात करो। अनेक जन्म तो गए। इस जन्म में भी बहुत बड़ा भाग बीत गया। अभी की बात करो। आप क्या चाहते हैं ? आपको क्या पसन्द है ? आप क्या कर सकते हो ? आप क्या मानते हो ? आप क्या जानते हो ?—इस पर बात करो। तब तो होगा आपको लाभ। और अनेक जन्मों की बात सोचते रहो, तो लाभ तो होने वाला है नहीं। आप कुछ जानते हो कि नहीं ? आप कुछ मानते हो कि नहीं ? आप कुछ कर सकते हो कि नहीं ? तो आपका जानना, आपका मानना, आपका करना ठीक होना चाहिये। बेड़ा पार होजायेगा। चाहे भले ही अनेक जन्मों में कुछ भी हुआ हो। चाहे इस जीवन का बहुत बड़ा भाग बीत गया है। मेरा तो ऐसा ख्याल है।

बात करने को तो चाहे जितनी बात कर लो, चाहे जैसी बात कर लो लेकिन वह जरूरी बात नहीं है। जरूरी बात

यही है कि आप अपने द्वारा अपने से पूछिये, कि भाई, क्या मैं स्वाधीन होना पसन्द करूंगा ? फिर पूछिये, कि क्या मैं मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूंगा ? अगर आप नहीं करेंगे, तो आप सच्चे मानव होजायेंगे। और जब आप मानव होजायेंगे, तब आपमें मानवता आजायेगी। और जब मानवता आजायेगी, तब जीवन में पूर्णता भी आजायेगी। क्योंकि मानवता में पूर्णता है। और आप मानव हैं, आपमें मानवता आ सकती है। केवल इन दो बातों को सामने रख कर विचार कर लीजिए कि मैं मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूंगा और किसी प्रकार से पराधीन होना पसन्द नहीं करूंगा।

स्वाधीन शब्द के उच्चारण में काल अपेक्षित है, लेकिन यदि आपको स्वाधीनता पसन्द आजाय, तो स्वाधीन होने में काल अपेक्षित नहीं है। कितनी सुगमता चाहिए आपको ? पर आश्चर्य की बात तो यही है कि स्वाधीन होना ही पसन्द नहीं करते, तो क्या किया जाय ! तो पराधीन न तो कभी शान्ति पाता है, न मुक्ति पाता है और न भक्ति पाता है। यह नियम है, यह विधान है, यह जीवन का सत्य है। इसमें इधर-उधर की बात चलती नहीं है। ठीक ईमानदारी से सोचा जाय तो। फिर भी जैसी आपकी मर्जी सरकार ! हमें क्या है ! हमें तो आपकी पूजा करनी। जैसी पूजा पसन्द करो, कर देंगे, जो हम कर सकते हैं। लेकिन वास्तविक बात यह है कि हम लोग अपने-अपने सम्बन्ध में अपने द्वारा विचार नहीं करते। सुनी हुई बातों को मान-मान करके एक राय कायम कर लेते हैं। और यह मान लेते हैं कि मानों यह हम जानते हैं।

अरे, किसी महापुरुष ने लिख दिया कि सृष्टिकर्त्ता ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। मान लिया। सोचा ही नहीं कि किस दशा में लिख दिया, क्यों लिख दिया, क्या लिख दिया, किस प्रसंग में लिख दिया ? अरे, लिखा था सो सीख लिया। किन्तु स्वयं विचार ही नहीं किया।

अगर आप विचार करते, तो आपको मालूम होजाता कि हमारी रुचिपूर्ति में ही इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। माँग पूर्ति में थोड़े ही बहिर्मुख हैं! आप रुचि को पूरा करते जायेंगे, इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनी रहेंगीं। आप रुचि पूरा करना छोड़दें, इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होजायेंगीं। इन्द्रियों को क्यों अपराधी बनाते हो ? रचनेवाले पर क्यों दोषारोपण करते हो ? लिखने वाले ने लिखा होगा किसी दृष्टिकोण से। कह दो—हमारी समझ में नहीं आती है यह बात। निन्दा मत करो।

श्रोता :—यह तो श्रुति का प्रमाण है महाराज !

स्वामीजी :—श्रुति की बात कहता हूँ, श्रुति के बाप का प्रमाण है जो मैं कहता हूँ। (हास्य) क्योंकि मेरे बाद श्रुति हुई है, मुझसे पहले श्रुति नहीं हुई। (हास्य) बुरा मत मानियेगा। बातचीत करने में रियायत नहीं करता। (हास्य) श्रुति अनेक हैं, एक नहीं हैं महाराज ! श्रुतियों का पूरा ज्ञान है किसी को कि कितनी श्रुतियाँ हैं ? अनन्त श्रुतियाँ हैं। परमात्मा का अनन्त ज्ञान है। यह मैं आपसे निवेदन करता हूँ।

उस श्रुति को छोड़ दो। दूसरी श्रुति आपके काम की निकल आयेगी, उसे लेलो। फिर भी मैंने यह तो नहीं कहा कि यह बात गलत है। ठीक होगी, मुझे नहीं जची, तो मैं क्या करूं ? कोई अपराध है क्या मेरा ? कोई कुसूर नहीं।

मैं इसमें अपराध नहीं मानता। मुझे नहीं मालूम होता। मैं 'करण' को कर्त्ता कभी मानने को राजी नहीं हूँ। फिर ये बहिर्मुख-अन्तर्मुख क्या? जैसे तुम वैसे तुम्हारे करण। तुम बहिर्मुख तो तुम्हारे करण बहिर्मुख। तुम अन्तर्मुख तो वे अन्तर्मुख। और फिर भी अगर ऐसा है, तो मत करो परवाह, मत करो इन्द्रियों को पसन्द! नाता तोड़ो! आखिर शरीर तो भौतिक तत्वों से बना है न! और संसार की उससे एकता है। और गम्भीरता से विचार किया जाय, तो आपको मानना पड़ेगा कि शरीर और संसार एक ही जाति के हैं दोनों।

अगर इन्द्रियाँ संसार की ओर जाती हैं, तो अपराध क्या है उनका? संसार की जाति की ही हैं। लेकिन आप क्यों संसार को पसन्द करते हो जी, यह बताओ? आप तो भगवान् की जाति के हैं। आपकी जातीय एकता संसार से नहीं है। आपका नित्य सम्बन्ध संसार से नहीं है। आपका आत्मीय सम्बन्ध संसार से नहीं है, परमात्मा के साथ है। शरीर का तो नित्य सम्बन्ध भी संसार से है, और जातीय सम्बन्ध भी संसार से है। शरीर अगर संसार की ओर जाता है, तो जाने दीजिए साहब, बेफिक्री से जाने दीजिये। निडर होजाइए। आप क्यों डरते हैं? आप अपना आत्मीय सम्बन्ध, आप अपना नित्य सम्बन्ध, आप अपना जातीय सम्बन्ध परमात्मा से स्वीकार कीजिए। और श्रुति इस बात का विरोध करे, तो मत मानिये। अगर इसका समर्थन करे, तो पहले इसे मान लीजिये, फिर पीछे वाली श्रुति मान लीजिए।

मेरा तो निवेदन इतना ही था कि किसी भी सुनी हुई बात को अपने जीवन के साथ मिला कर देखने की कोशिश कीजिए, तो आपको ज्यादा लाभ होगा। और नहीं तो मानते रहिए

जीवन भर। लाभ तो तभी न! होगा कि जब आप जिस बात को सुनें, उसे अपने जीवन पर विचार करके देखें। मान लीजिए, आप शान्त बैठे हैं। और आपकी पूर्व कृति के प्रभाव से बुरे ख्याल उठे। थोड़ी देर के लिए कल्पना करलो। उठे ही तो ख्याल! जिस चीज का ख्याल उठा, वह वहाँ मौजूद है क्या? बोलो क्या राय है?

श्रोता : जी, नहीं।

स्वामीजी : ठीक बात है न?

श्रोता : ठीक है।

स्वामीजी : बिल्कुल ठीक?

श्रोता : बिल्कुल ठीक।

स्वामीजी : अच्छा! चीज तो वहाँ मौजूद है नहीं, केवल ख्याल है।

अच्छा, आपने जान लिया कि बुरा ख्याल है। ठीक बात है न? इसमें कोई बात नहीं है न? आप उसको पसन्द मत कीजिए। ख्याल उठने से ही क्यों बिगड़ते हैं आप? चीज तो वहाँ है नहीं। उस ख्याल से लड़ते क्यों हैं आप? चीज तो है नहीं। अरे, तू क्यों उठा, तू क्यों उठा?—ऐसे ही लड़िये कि खाना क्यों पचा? शरीर में, अंगों में खून की गति क्यों हुई? शरीर में गंदला क्यों हुआ?—इन सबसे लड़िये? अरे भाई, जो बात आपके बिना करे होरही है, बिना चाहे हो रही है, उससे आप परेशान क्यों हैं? इस पर थोड़ा गम्भीरता से विचार कीजिए। आप उसका समर्थन नहीं करेंगे, तो वह ख्याल वहाँ का वहीं नाश होजायेगा। फिर दूसरा अच्छा ख्याल उठेगा। अगर सामर्थ्य विरोधी है तो उसे भी पसन्द मत कीजिए। अगर अच्छा ख्याल है और सामर्थ्य के अनुसार है, तो उसको पूरा कर दीजिए। फिर भी आप बेख्याल के होजायेंगे।

तो थोड़ी-सी बात के लिए आप परेशान क्यों होते हैं ? ... अरे, राम ! राम ! संस्कार क्यों उठ गये ? इन्द्रियाँ बहिर्मुख होगईं, मन चंचल होगया ! परेशानी की क्या बात थी ? होगया, तो होजाने दीजिए। तुम्हारा क्या बिगड़ेगा ? हाँ, इन सब बातों पर बहुत गम्भीरता से विचार करेंगे, तो आपको मालूम पड़ेगा कि जिन विषयों का हमने अनेक बार भोग किया है, उन्हीं का राग हममें अंकित हुआ है। और वह अंकित राग जब हमें अवसर मिलता है, कार्य से फुरसत मिलती है, या जब हम अन्तर्मुख होना चाहते हैं, उस समय वह सामने आता है। इतनी-सी बात तो आपकी बिल्कुल सत्य है। सामने आता है।

लेकिन अगर आप उसका समर्थन नहीं करेंगे, आप अगर उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेंगे, आप अगर उससे अपने को नहीं मिलायेंगे, तो वह ख्याल कुछ काल में अपने आप नाश होजायेगा। कब होजायेगा ? इसकी भी परवाह मत करो। होजायेगा, जरूर। और नहीं होजायेगा तो आपका तो कुछ बिगड़ा नहीं न ! आप तो अपने आप में ज्यों-के-त्यों स्थित हैं। अरे ! कोई दूसरा आदमी बैठ कर बीड़ी पी रहा हो और आप देख रहे हों, तो आपको क्या नुकसान होगा उसके पीने से ? ऐसे ही कोई नहा रहा है, आप किनारे पर बैठे वैसे ही परेशान हो रहे हैं ! (हास्य)

इसी तरह से अपने संस्कारों से लड़ो मत, उनके सामने हार स्वीकार मत करो, उनके सामने उनका समर्थन मत करो। यह मानव-मनोविज्ञान है भैया ! इससे मन शुद्ध हो जायेगा, शान्त होजायेगा अपने आप। अनुभव करो, अरे !

एक संकल्प पूरा करने में महीनों का समय नहीं लग जाता ? वर्षों नहीं लग जातीं क्या ? बोलो, क्या राय है ? कभी-कभी देखा है आपने—जरा देर में संकल्प उठ गया, कितना समय लग गया ! कितनी शक्ति लग गई ! जब पूरा होगया तो थोड़ी देर में वहीं आगए जहाँ थे। मिला कुछ नहीं। यह जीवन का सत्य क्या आपको नहीं मालूम होता कि हर संकल्प की पूर्ति होने पर मनुष्य उसी स्थिति में आता है, जिस स्थिति में संकल्प की उत्पत्ति के पूर्व था ? इस सत्य को आप क्यों नहीं पकड़ते बाबा ? उसके पूरे होने से आपकी कोई वृद्धि नहीं होगई, उसके पूरे न होने से आपकी कोई क्षति नहीं होगई। आप तो उसी स्थिति में थे ही।

तो इस दृष्टि से देखा जाय तो जिसे आप मन को काबू में करने की बात कहते हैं, पूरा होजायेगा। लेकिन अगर आपने स्वाधीनता का दुरुपयोग किया और अगर आपने पराधीन रहना पसन्द किया, तो कुछ नहीं होजाएगा। आप पराधीन रहना मत पसन्द कीजिए। आप स्वाधीनता का दुरुपयोग मत कीजिए। काम बन जायेगा आपका। यह मानव-मात्र का प्रोग्राम है। चाहे वह किसी मत, मजहब, इज्म, सम्प्रदाय का मानने वाला क्यों न हो। स्वाधीन हुए बिना प्रभु की न समीपता प्राप्त होती है, न एकता प्राप्त होती है और न अभिन्नता प्राप्त होती है। न योग प्राप्त होता है न बोध प्राप्त होता है और न प्रेम प्राप्त होता है स्वाधीन हुए बिना।

और स्वाधीनता का सदुपयोग किए बिना आपको संसार कभी पसन्द नहीं करता। इसलिए इन दोनों पर ध्यान दीजिये, जितना दे सकें, बल पूर्वक, ज्ञान पूर्वक, विचार पूर्वक, धीरज

पूर्वक जैसे बने वैसे। रोकर, पीटकर, चीखकर, चिल्लाकर, समझकर, समझाकर, जैसे बने वैसे इन दो मुख्य बातों पर ध्यान दीजिए। विचार करो जितना तर्क उठे, इन दोनों बातों में लगाओ। स्वाधीनता का दुरुपयोग करके कभी आप ससार के काम के नहीं हो सकते। ससार आपको बिल्कुल नापसन्द कर देगा—कम करे, ज्यादा करे, अभी करे, कभी करे। स्वाधीन हुये बिना न शान्ति मिले, न मुक्ति मिले और न भक्ति मिले। और स्वाधीन होने में आप पराधीन हैं नहीं, असमर्थ हैं नहीं। स्वाधीनता के सदुपयोग में आप असमर्थ हैं नहीं। इन दोनों बातों में मानव की असमर्थता का दोष नहीं है।

स्वाधीनता का तो मतलब यह न! होता है कि आपको उसकी अपेक्षा न रहे जो आपमें नहीं है, आपके पास नहीं है। यह कह रहा हूँ। शरीर के आधीन पराधीन, योग्यता के आधीन भी पराधीन, सामर्थ्य के आधीन भी पराधीन, वस्तुओं के आधीन भी पराधीन। वह स्वाधीनता नहीं। जैसे एक बात सुनायें, आपको। हम श्री वृन्दावन से श्री गोवर्धन जा रहे थे, वहाँ सत्संग था। दो कार थीं। एक में हम बैठे थे, एक में और मित्र लोग थे। कार ५० मील की रफ्तार से चल रही थी। हम लोग सोच रहे थे कि अभी पहुँचे जाते हैं। थे तो पराधीन और सोच रहे थे कि स्वाधीन! कार खड़ी होगई। अब मालूम पड़ा। देखिये, पराधीन तो तब भी थे जब कार में बैठे थे, और नहीं चली तब भी पराधीन थे। थे न?

तो बहुत से लोग इस बात को स्वाधीनता मान लेते हैं कि हमारे पास इतना पैसा है, आराम से खायेंगे, भजन करेंगे। एक बार हम उत्तरकाशी में थे। केशवानन्द नाम के एक

महात्मा थे। क्षेत्र से रोटी आयें, हम भी खायँ, वे भी खायँ। कहने लगे—'क्या बतायें महाराज! हमने पाँच हजार रुपया इकट्ठा किया था एक फर्म में। जब घर छोड़कर चले थे उत्तर काशी के लिए, तो यह सोचा था कि २५/- महीना मिल जायेगा ब्याज का।'—उस जमाने में २५/- बहुत थे। भैया! आजकल तो सवा सौ समझो, डेढ़ सौ समझो। पाँच गुनी-छः गुनी, कोई-कोई चीज दस गुनी मँहगी है। जी? उस समय तो सस्ता बहुत था।—'क्या बतायें, फर्म ही फेल होगई।' तो हम और वे दोनों बराबर होगए। (हास्य)

तो कुछ लोग, जैसे स्थान मिल जाय बैठने के लिए तो सोचते हैं कि हम स्वाधीन होगए। खाना मिल जाय तो हम स्वाधीन होगये। शरीर स्वस्थ है तो स्वाधीन होगए। यह स्वाधीनता नहीं है। स्वाधीनता का अर्थ ही यह है कि आप जब स्वाधीनता पसन्द करेंगे तो शरीर की भी आप आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे। और मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता जो मुझको दीखती है, वह यही दीखती है कि आदमी यह सोचता है कि शरीर बना रहे। और उनके भी बड़े-बड़े प्रमाण हैं महाराज! इतने प्रमाण हैं कि मेरा मुँह बन्द होजाय इतना लोग सुना देंगे। शरीर के बिना यह नहीं होगा, शरीर के बिना वह नहीं होगा।—ठीक है। लेकिन यही सबसे बड़ी दुर्बलता है कि मनुष्य यह सोचता है कि शरीर बना रहे। और वह रहेगा नहीं। यहीं से पराधीनता का जन्म होता है। और चीजें तो शरीर के बाद में न! आती हैं काम में? शरीर के लिए न! आती हैं काम में? क्या राय है बोलिये?

तो यह पराधीनता हम पसन्द न करें कि शरीर नहीं

रहेगा तो हमारा जीवन ही नहीं रहेगा— इस पर गम्भीरता से मनन करलें। अगर शरीर के न रहने से हमारा जीवन न रहेगा, तो हमारा जीवन है ही नहीं, रहेगा क्या ? ऐसा मान लेना चाहिए। नहीं तो अगर हमारा जीवन है, अगर हमारा अस्तित्व है, तो शरीर नहीं रहेगा, हमारा अस्तित्व रहेगा। संसार नहीं रहेगा, हमारा अस्तित्व रहेगा। कौन मिटा सकता है ?

देखिए, मिलता है वही जो मिला है। अलग होता है वही जो अलग है। अगर आप कभी भी यह अनुभव करें, कभी भी मानें कि शरीर अलग होजायेगा, तो अभी मान लीजिये कि अभी अलग है। और इस बात में विश्वास करें कि कभी भी परमात्मा मिल जायेगा, तो अभी मान लीजिये कि अभी पास है, अभी भी मिला है।

अगर आपको यह बात जच जाय, रुचि जाय, पसन्द आ जाय तो आपको स्वाधीन होने का साहस भी होजाय, और आप स्वाधीन हो भी जायँ। एक बात। दूसरी बात यह है कि अगर आप स्वाधीन नहीं होना चाहते हैं और यह सोचते हैं कि शरीर के द्वारा ही काम चलेगा, धन के द्वारा ही काम चलेगा तो फिर भाई, यह मत सोचिए कि शान्ति हमको मिल जाय, फिर यह भी मत सोचिए कि मुक्ति हमको मिल जाय। फिर यह भी मत सोचिए कि भक्ति हमको मिल जाय। यह भी मत सोचिए। लेकिन बड़ा अनर्थ होजायेगा कि शरीर के बिना तो काम चलेगा नहीं, फिर भी हमको शान्ति चाहिए। करते रहो भाई, बच्चों जैसा खेल। वास्तविक शान्ति मिलेगी नहीं।

जिस समय आप स्वीकार करेंगे, अपने द्वारा स्वीकार करेंगे, अनुभवपूर्वक स्वीकार करेंगे कि जो शरीर कभी अलग होगा, हम अभी क्यों न उससे अपनी असंगता का अनुभव करें! जो वस्तु कभी अलग होगी, क्यों न उससे अभी निर्ममता पसन्द करें? जो कामनायें हमको पराधीन बनाती हैं, क्यों न हम उनका त्याग करें! इसमें कोई धन की जरूरत तो है नहीं, बल की जरूरत तो है नहीं, संसार की जरूरत तो है नहीं। आप अकेले होकर जब चाहें तब शरीर से असंग होसकते हैं, जब चाहें तब निर्मम होसकते हैं। जब चाहें तब निष्काम हो सकते हैं। इसमें आपको कोई कठिनाई नहीं है।

और यह कहें कि साहब! यह तो बड़ा कठिन है। तो शरीर को बनाए रखना कौनसा सुगम है? है क्या? कोई कह दे कि निष्काम होना बड़ा कठिन है तो भाई, कामनापूर्ति करना कौनसा सहज है? कोई कहे कि ममता छोड़ना बड़ा कठिन है तो मैं पूछता हूँ कि जिस पर आपकी ममता है, उसे रखना क्या सुलभ है? सहज, सम्भव है क्या? बोलो? अब काहे को मौन होगए?

श्रोता : नहीं है, नहीं है।

स्वामीजी : तो जो सुलभ नहीं है उसको तो आप पकड़े बैठे हैं, कोशिश करते हैं। और जो सुलभ है, उससे आप निराश होजाते हैं। सो मत हो भैया! आप स्वाधीन होने से कभी निराश न हों। आप स्वाधीन होसकते हैं। स्वाधीनता आपका जन्म-जात अधिकार है। क्यों?

प्रभु नें आपको पराधीन होने के लिए नहीं बनाया है। आपको शरीर और संसार इसलिए नहीं दिया है कि आप पराधीन होजायँ। इसलिए दिया है कि आप उदार होजायँ,

आप संयमी होजायँ, आप तपस्वी होजायँ, आप संसार के काम आजायँ। मनुष्य को प्रभु ने संसार का दास बनने के लिए नहीं बनाया है। संसार के काम आने के लिए बनाया है। और आप सच मानिये। मैं कभी-कभी ऐसा अनुभव करता हूँ और ठीक ही है यह बात, मेरे लिए तो ठीक ही है। आपके लिए ठीक होगी या नहीं कि प्रभु ने अपना दास बनाने के लिए भी हमको नहीं बनाया। प्रेमी बनाने के लिए बनाया है दोस्त बनाने के लिए बनाया है। हम अपनी मर्जी से अपने को दास मान लेते हैं।

श्रोता : दास्य भाव नीचा………?

स्वामीजी : दास्य-भाव नीचा नहीं है, बहुत ऊँचा है। दास स्वामी को प्यारा होता है। यह बात अलग है। इस दृष्टि से मत लीजिए इस बात को। परमात्मा ने तो हमको-आपको इसलिए बनाया है कि संसार में भी हम उदार होकर रहें और स्वाधीन होकर रहें, और प्रेमी होकर रहें। यह प्रभु का संकल्प है मेरे भाई! यह जगत का संकल्प है मेरे भाई! जगत् आपको पराधीन नहीं देखना चाहता। जो जगत् में ममता का भार रखते हैं, उनसे जगत् भयभीत होता है। जगत् हर्षित होता है उससे, जो जगत् पर अपना ममत्व नहीं रखता, जो जगत् से कामना नहीं रखता। परमात्मा ने इसी उद्देश्य के लिए बनाया है सरकार! आपको।

फिर भी आपको परमात्मा की भूल दिखाई दे, तो कोई बात नहीं। मिलकर हम फिर बात करेंगे। अभी से मुकद्दमा मत चलाओ। पहले परमात्मा के उद्देश्य को पूरा करो जिसे कि आप कर सकते हैं। अल्प-से-अल्प शक्ति वाला मनुष्य भी

संसार के काम आसकता है, यदि वह उदार होना पसन्द करे, यदि वह स्वाधीन होना पसन्द करे। तो स्वाधीन होने पर ही आप सँसार के काम आते हैं और स्वाधीन होने पर ही आप प्रभु के प्रेमी होते हैं। और स्वाधीन होने से ही सर्व दुःखों की निवृत्ति होतीं है। स्वाधीन होने से ही चिरंशान्ति और जीवन-मुक्ति मिलती है। मजाक नहीं है। पसन्द करें, तो स्वाधीन आप होसकते हैं।

इतनी बातों पर तो आपका अधिकार ही है सरकार! चिर-शान्ति में, जीवन-मुक्ति में, प्रभु-प्रेम में आपका अधिकार ही है। फिर भी आप कहते हैं कि कठिन है, सम्भव नहीं है। तो जिसको आप पकड़े बैठे हैं वह तो बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। रोओ बैठकर भाई। रोने के सिवाय क्या रह गया है भाई, बताओ ?

अगर हम मानते हैं कि स्वाधीन होना सम्भव नहीं है। तो धन के आधीन जीना चाहें, तो उसे बनाये रखना सम्भव है क्या ? तन के अधीन हम अपना जीवन रखना चाहते हैं, यह तन रखना सम्भव है क्या ? आप सोचिये।

२८

ब

सत्-चर्चा का हम सबको अवसर मिला है। क्योंकि यह किसी कर्म का फल नहीं है। कर्म करने की स्वाधीनता मानव होने के पश्चात् होती है। और मानव के पुरुषार्थ में "सत्संग" ही मूल उपाय है। अतः मानव-जीवन जैसे अहैतुकी कृपा से मिला है, वैसे ही सत्संग का अवसर भी प्रभु की कृपा से ही मिलता है। अब बात यह है कि मुझे बोलना है और आपको सुनना है। कितना अच्छा हो कि मालूम होजाय कि आप महानुभाव क्या सुनना चाहते हैं! आप अपने जीवन की चर्चा, आपके जीवन में जो कठिनाई हो, जो उलझन मालूम होती हो, उस सम्बन्ध में अगर प्रश्न करेंगे तो मैं प्रश्नोत्तर कर सकता हूं। आप लोगों को अगर अपने जीवन में कोई कठिनाई मालूम होती हो, उस सम्बन्ध में आप प्रश्न करेंगे, तो आपको बहुत लाभ होगा। मेरे जानते बहुत लाभ होगा, अवश्य होगा। और इस तरह से तो एक समय था जब प्रणव ही वेद था, उसी से सारे वेदों का ज्ञान होजाता था मानव को। फिर वेद-माता गायत्री वेद होगया। फिर देखलो, वेद का प्रकाश कितना हुआ है! हजारों ग्रन्थ होगए।

तो यह एक ऐसी अनन्त बात है जिसकी कोई सीमा नहीं है। अगर आप लोगों की कोई व्यक्तिगत कठिनाई है, तो हम

लोग उस पर विचार-विनिमय कर सकते हैं। सम्भव है आपको विशेष लाभ हो ही जाय।

तो मैं जब कभी कहता हूँ कि आप क्या सुनना चाहते हैं, तो उसका अर्थ यह नहीं होता है कि हम अमुक विषय की व्याख्या सुनना चाहते हैं। इसका अर्थ होता है कि आपकी कोई निजी कठिनाई है क्या ? जिस सम्बन्ध में आप सुनना चाहते हैं। हाँ, भाई, तो प्रश्न करना चाहते हो तो प्रश्न करो। आपका प्रश्न हो। आपके जीवन से सम्बन्ध रखने वाला हो। तब तो उसका लाभ है। और नहीं तो महाराज, कोई खास लाभ होता होगा, मुझे मालूम नहीं, खास अनुभव नहीं है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि लाभ नहीं होता, वरन् यह प्रथा चलती कैसे ! लाभ होता होगा, परन्तु मुझे अनुभव नहीं है।

श्रोता :—मैं प्रभु का हूँ, और प्रभु मेरे हैं—समझने में कठिनाई हो रही है।

स्वामीजी :—यह कठिनाई इसलिए हो रही है कि आपने कहा था कि समझने में कठिनाई हो रही है। बड़ी ईमानदारी की बात आपने कही है। प्रभु आज तक किसी की समझ में तो आया नहीं और आयेगा भी नहीं। जो समझने में नहीं आता, उसे समझने के द्वारा कैसे स्वीकार कर सकते हो ? बड़ी गम्भीर बात है। आपने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया।

"मैं प्रभु का हूँ", "प्रभु मेरे हैं"—यह समझने के द्वारा कभी आप स्वीकार नहीं कर पायेंगे। क्यों ? अगर प्रभु समझ की सीमा में आता, तो हम कहते—देखो भाई, हमने इस आधार पर समझ लिया। ठीक है, हम मान लेते हैं कि मैं प्रभु का हूँ। यह समझ की सीमा का प्रश्न है ही नहीं। यह प्रश्न

तो आस्थावान साधकों का प्रश्न है, जिन्होंनें प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार किया। कैसे नहीं, किया। और ज्यादा कोई कैसे ? कैसे ? लगाये, तो इतना ही कह सकते हैं—वेदवाणी के आधार पर किया, गुरू-वाणी के आधार पर किया, भक्त-वाणी के आधार पर किया। भक्तों ने कहा कि परमात्मा है; इसलिये हमने मान लिया कि परमात्मा है। वेदों ने कहा कि परमात्मा है, इसलिये हमने मान लिया कि परमात्मा है। यह समझना नहीं होता। इसको स्वीकार करना होता है, मानना होता है।

आप देखिये न ! समझ इन्द्रिय-दृष्टि पर काम करती है। यानी इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु आप देखते हैं, उस पर समझ अपना निर्णय देती है कि जैसा तुम समझे हो वैसा नहीं है। यानी इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को समझ समाप्त करती है। तब क्या होता है ? कि जीवन में इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव नहीं रहता, इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय-ज्ञान नहीं रहता—उलटा अर्थ मत लगा लीजियेगा। इन्द्रिय-ज्ञान तो रहता है, पर उसका प्रभाव नहीं रहता। तो जब इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव जीवन में नहीं रहता, तब इन्द्रियाँ अपने आप अविषय होती हैं, यानी अपने विषय को छोड़ देती हैं। और जब इन्द्रियाँ अविषय होती हैं तब मन निर्विकल्प होता है। ऐसा विधान ही है। अनुभव सिद्ध सत्य भी है। और जब मन निर्विकल्प होता है, तब बुद्धि सम होती है। यही बुद्धि-दृष्टि का सबसे अच्छा उपयोग है।

अथवा कर्त्तव्य के क्षेत्र में है। विज्ञान के आधार पर बुद्धि कहती है कि ऐसा करोगे तो उसका परिणाम ऐसा होगा।

ऐसा करोगे तो ऐसा होगा। इसके आगे बुद्धि-दृष्टि का परमात्मा की प्राप्ति में, या परमात्मा के मानने में कोई हाथ है नहीं। नहीं तो सभी बुद्धिमानों के आधीन हो जाता परमात्मा। परमात्मा के सम्बन्ध में बुद्धि का कोई काम नहीं है।

यह बात अलग है कि जब बुद्धि-दृष्टि सम होगई आपकी, तो अपने आप बुद्धि के सम होने पर अगर आप में जिज्ञासा है तो बिचार का उदय होसकता। कर्त्तव्यनिष्ठ अगर आप हैं तो कर्त्तव्य पालन की शक्ति आसकती है। ऐसे ही अगर श्रद्धाबान आप है, तो स्मृति जग सकती है।

तो स्मृति बुद्धि के प्रयास से नहीं जगी। आपने जो परमात्मा मैं आस्था की, श्रद्धा की, विश्वास किया और बुद्धि-दृष्टि से मन निर्विकल्प होगया, इन्द्रियाँ विषय-विमुख होगईं तो आपकी आस्था के कारण आपमें प्रभु की स्मृति जग सकती है, प्रियता उदय हौसकती है। तो स्मृति जगना और प्रियता का उदय होना, और जिज्ञासापूर्ति के लिये विचार का उदय होना, और कर्त्तव्यपालन के लिये आवश्यक-सामर्थ्य की उपलब्धि होना—यह सब बुद्धि के सम होने का फल होसकता है। इस दृष्टि से अगर आप विचार करके देखेंगे, तो बुद्धि-दृष्टि का अच्छे-से-अच्छा उपयोग क्या हुआ भैया? तो आपको मानना पड़ेगा कि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के मिटाने में—दृष्टि के मिटाने में नहीं—बुद्धि-दृष्टि का सबसे अच्छा उपयोग हुआ इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को मिटाने में। और जब इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिट गया हमारे जीवन में से, तब क्या हुआ? तब इन्द्रियाँ अविषय होंगी अपने आप, मन निर्विकल्प होगया, बुद्धि सम होगई। अर्थात् भोग की जो रुचि थी वह योग में बदल गई।

अगर एक वाक्य में कहा जाय तो इसका अर्थ होता है कि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के मिट जाने के बाद भोग की रुचि योग में बदल जाती है। योग माने क्या है भाई ? शास्त्रीय प्रक्रिया मैं नहीं जानता। योग माने—परमात्मा के साथ अत्यन्त समीपता। यह योग हुआ। जब परमात्मा की समीपता प्राप्त हुई, तो जिसकी समीपता प्राप्त होती है, उससे एकता भी होजाती है। यह बोध हुआ। और जिससे एकता होजाती है उससे अभिन्नता भी हो जाती है। यह प्रेम हुआ। मिला क्या ? —योग, बोध और प्रेम। यह आपको प्राप्त हुआ। मिटा क्या ?—भोग, मोह और आसक्ति। यह आपकी नाश होगई। इस दृष्टि से बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव का बड़ा भारी महत्व है, बुद्धि का महत्व नहीं है। यह महत्व बुद्धि की उस दृष्टि का है जो दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त कर लेती है—उस दृष्टि का है। नहीं तो बुद्धि ही तो, आप देखेंगे कि चोरी करने का तरह-तरह का तरीका बुद्धि ही बताती है। किस प्रकार से कानूनी चोरी की जाय कि इन्कम टैक्स बचाया जा सके ! बुद्धि नहीं बताती क्या ? बोलो, जी ? तो उस बुद्धि का महत्व थोड़े ही है ! वह भी उस दृष्टि का जो इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को न रहने दे, उस बुद्धि-दृष्टि का महत्व है।

और वह बुद्धि-दृष्टि कब प्राप्त होती है ? जब बुद्धि विवेकवती हो। जब तक बुद्धि विवेकवित नहीं होती तब तक वह काम करने के लायक ही नहीं होती, सही काम कर ही नहीं सकती। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आपने बड़े सुन्दर ढंग से प्रश्न रखा, ईमानदारी से रखा कि "परमात्मा अपना है और हम परमात्मा के हैं।"—यह बात समझने के द्वारा सिद्ध नहीं

हुई। यह बात समझने में बड़ी कठिन मालूम होती है। मैं तो कहता हूँ कि सम्भव ही नहीं है, कठिन क्या मालूम होती है ! यह तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास का विषय है।

परमात्मा है—इसका सबूत क्या है ? सिवाय इसके कि आपने चाहे वेद-वाणी से, चाहे गुरू-वाणी से, चाहे भक्त-वाणी से परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया। यही इसका उपाय हुआ। तो परमात्मा के स्वीकार करने की स्वाधीनता आपको आस्था के आधार पर है, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर है। और किसी प्रकार से नहीं है। फिर भी यदि आप परमात्मा को मानते ही हैं, या मानना चाहते ही हैं तो मानिये।

यहाँ एक बात और ज्यादा कहना जरूरी है। मान लीजिये, आप परमात्मा को नहीं मानना चाहते, तो भी आपको परमात्मा मिलेगा। आप चौंक जायेंगे कि कैसा आदमी है कि कहता है कि परमात्मा के न मानने से भी परमात्मा मिलेगा ! भाई, मानने से परमात्मा बनता थोड़े ही है ! और न मानने से कोई बिगड़ जाता है क्या ? तो मानने से क्या होता है कि हमारा सम्बन्ध परमात्मा के साथ होजाता है। सम्बन्ध से स्मृति और प्रियता उदय होती है। और बस, उसकी प्राप्ति हो जाती है।

लोग कहेंगे कि ठीक है। न मानने से कैसे मिलेगा ? परमात्मा को न मानने का अधिकारी वही होता है जो सचमुच फिर किसी चीज को मान ही नहीं पाता। यह नहीं है कि हम परमात्मा को नहीं मानेंगे, संसार को मानेंगे, हम अपने को मानेंगे। तो अपने को मानना भी, संसार को मानना भी आप तर्क से सिद्ध नहीं कर सकेंगे। क्योंकि जिस संसार की स्थिति

ही सिद्ध नहीं होती, उसको आप मानेंगे क्या ? जब आपने अपने आपको कभी देखा ही नहीं, तो मानेंगे क्या ?

परमात्मा ही बिना देखा हुआ है, सो बात नहीं है। किसी भाई ने, किसी बहन ने "मैं" को कहाँ देखा है, बताओ ? बोलो, आपमें-से कोई हो बहादुर तो बताये—मैंने "मैं" को देखा है। जो देखा है, सो "यह" कहलाता है। "मैं" उसका नाम ही नहीं हुआ। तो जैसे "मैं" बिना देखा हुआ है, ऐसे ही "परमात्मा" भी बिना देखा हुआ है। लेकिन आप बिना देखे हुये "मैं" को मानें, और परमात्मा को न मानें—यह तो आपका न्याय नहीं होगा, यह तो आपकी दलील सही नहीं होगी।

और देखा हुआ संसार आप मान ही नहीं सकते। क्योंकि इसकी स्थिति सिद्ध नहीं होती। तो जब कभी मानने की बात आयेगी भाई मेरे ! तो बिना देखे की आयेगी, सुने हुये की आयेगी। देखे हुये की नहीं आयेगी। क्योंकि देखे हुये की स्थिति सिद्ध हुई नहीं, पकड़ में आया नहीं। इसलिये देखे हुए संसार को मान ही नहीं सकते। बिना देखे "मैं" को मानते हो, तो बिना देखे "है" को क्यों नहीं मानते ? अगर आप यह कहें कि हम परमात्मा को नहीं मानेंगे बिने देखे, तो बिना देखे "मैं" को क्यों मानते हो ? उसे भी मत मानो।

इस दृष्टि से अगर देखा जाय तो जब आप परमात्मा को भी नहीं मानेंगे और संसार को भी नहीं मानेंगे और अपने को भी नहीं मानेंगे, तो आप अप्रयत्न होजायेंगे, अचाह हो जायेंगे, निर्मम हो जायेंगे, निष्काम होजायेंगे, असंग होजायेंगे। जहाँ निर्ममता आजायेगी, जहाँ निष्कामता आजायेगी, जहाँ असंगता आ

जायेगी, जहाँ अप्रयत्न आजायेगा, वहाँ अपने आप बिना किसी प्रयत्न के "मैं" "है" में विलीन होजायेगा। तो "मैं" "है" में विलीन होगया तब भी वही बात हुई, और जब "मैं" ने "है" को स्वीकार कर लिया तब भी वही बात हुई।

इसलिए परमात्मा का मिलना तो मानने, न मानने वाले दोनों के लिए समान है। अब भाई, आपकी मर्जी है। मानने की प्रणाली आपको पसन्द है, कि न मानने की! उसमें कोई घटिया-बढ़िया नहीं है, ऊँची-नीची नहीं है। कोई कठिन-सुगम नहीं है। जिसमें मानने की सामर्थ्य है वह मानकर परमात्मा को प्राप्त करे और जिसमें न मानने की सामर्थ्य है वह न मान कर परमात्मा को प्राप्त करे।

क्योंकि जो प्राप्त होता है उसी का नाम "परमात्मा" है। यों भी कह सकते हैं कि "परमात्मा" ही प्राप्त होता है। और कुछ चीज प्राप्त होती नहीं। और चीज की तो प्रतीति होती है। और चीजों में तो प्रवृत्ति होती है, प्रतीति होती है; प्राप्ति तो होती नहीं। परमात्मा की आपको प्रतीति तो होती नहीं, इसलिये आपकी उधर प्रवृत्ति भी नहीं होती। प्रवृत्ति न हो, प्रतीति न हो तो भी तो निवृत्ति होगी न? प्रवृत्ति नहीं होगी तो निवृत्ति होगी। प्रतीति नहीं होगी तो विमुखता होगी। दृश्य की विमुखता, प्रतीति की विमुखता। तो निवृत्ति और प्रतीति की विमुखता से भी नित्य प्राप्त परमात्मा के साथ समीपता, एकता और अभिन्नता होजाती है। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि भाई, यदि कोई चीज प्राप्त होती है, तो उत्तर में लिखदो—परमात्मा। अगर कोई प्राप्त होता है तो परमात्मा

ही। और प्रतीत भी हो, प्रवृत्ति भी हो, प्राप्ति न हो तो भाई, उसी का नाम – संसार है। प्रतीति तो होती है उसकी, और प्रवृत्ति भी होती है। लेकिन प्राप्ति नहीं होती।

तो इस ज्ञान के द्वारा संसार की निवृत्ति होती है और आस्था, श्रद्धा, विश्वास के द्वारा परमात्मा की स्वीकृति होती है। जब हम परमात्मा को स्वीकार कर लेंगे—बड़ी अच्छी वैज्ञानिक बात मैं निवेदन कर रहा हूँ आपसे, अपने आप प्रेरणा हुई—तो निर्णयात्मक स्वीकृति के कारण या निर्णयात्मक स्वीकृति आजाने पर कोई प्रवृत्ति शेष नहीं रहती, प्रवृत्ति समाप्त होजाती है। और जहाँ प्रवृत्ति समाप्त हुई, तब क्या होगा? कि आपकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर होजायेगी, आपका चित्त बिना आधार के शान्त होजायेगा। और जब दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर होगई और चित्त बिना आधार के शान्त हो गया, तो योग की प्राप्ति होगई।

और जब योग की प्राप्ति होजाती है तो बोध और प्रेम स्वतः प्राप्त होजाता है। क्योंकि योग की पूर्णता हो और बोध न हो—यह हो ही नहीं सकता। और बोध हो और प्रेम न हो—यह हो ही नहीं सकता। जैसे भोग में मोह और आसक्ति रहती ही है। कोई नहीं कह सकता कि मैं भोग पसन्द करूंगा और मोह-आसक्ति मुझमें नहीं रहेगी। यह हो ही नहीं सकता। ऐसे ही जब योग की प्राप्ति होजाती है तो बोध और प्रेम उसमें रहता ही है।

क्योंकि इन तीनों में स्वरूप से विभाजन नहीं होता। योग की पूर्णता में बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम स्वतः ओत-प्रोत है, निहित रहता है। इसलिये भाई, किसी भी

प्रकार से योग प्राप्त करो। संसार की निवृति के द्वारा भी योग की प्राप्ति होती है और परमात्मा के अस्तित्व को, परमात्मा के महत्व को, परमात्मा के अपनत्व को स्वीकार करने से भी परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध होता है। और आत्मीय सम्बन्ध से भी योग की प्राप्ति होती है। आत्मीय सम्बन्ध भी तो योग ही है, और क्या है? इस दृष्टि से विश्वास के द्वारा भी परमात्मा की प्राप्ति होती है। और केवल विचार के द्वारा भी परमात्मा की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे ज्ञान का मार्ग हो तो, और विश्वास का मार्ग हो तो, 'परमात्मा' ही प्राप्त होता है, और कोई प्राप्त होने वाला है नहीं। इसलिये परमात्मा के लिये कह दिया गया—वह सदैव है। परमात्मा ने यह नहीं कहा कि मैं सदैव नहीं हूँ। सर्वत्र है। परमात्मा ने यह नहीं कहा कि मैं सर्वत्र नहीं हूँ। सभी का है, अद्वितीय है, समर्थ है। जो सदैव है वह अभी भी है, सर्वत्र है तो अपने में भी है। सभी का है तो अपना भी है। तो अपने में अपना परमात्मा अभी मौजूद है। इसी का नाम तो आस्था हुआ। और आस्था क्या है? अपने में अपना परमात्मा मौजूद।

जब अपना होने से प्रिय है। और अपने में होने से वर्तमान की बात होगई। उसकी प्राप्ति वर्तमान की चीज होगई। क्योंकि अपने में है, अभी है। इस दृष्टि से विचार करके देखेंगे आप, तो परमात्मा की प्राप्ति ही मानव के लिए अत्यन्त सुलभ है, सहज है, स्वाभाविक है। और कोई चीज प्राप्त होती होगी, तो वह सभी के लिये, सदा के लिये सम्भव है नहीं। संसार में कोई वस्तु, कोई सामर्थ्य, कोई योग्यता ऐसी नहीं है कि जो सदा के लिये हो, सभी के लिए हो। इसलिये

जो सदा के लिये नहीं है, जो सभी के लिए नहीं है उसे विवेकियों ने अपने लिये स्वीकार नहीं किया। और विश्वासियों ने यह श्रवण करके कि परमात्मा सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है—यह स्वीकार करके परमात्मा को प्राप्त किया।

तो चाहे आप विवेकी होकर परमात्मा को प्राप्त करें और चाहे आप विश्वासी होकर परमात्मा को प्राप्त करें। प्राप्त परमात्मा ही होगा। और कोई वस्तु प्राप्त नहीं होसकती।

अगर इस वास्तविकता में आपका विकल्प-रहित विश्वास होजाय, तो जिसकी प्राप्ति में विकल्प-रहित विश्वास होजाता है, उसकी तीव्र लालसा जाग्रत होजाती है, उसकी मांग जाग्रत होजाती है।

अब आप सोचिये कि यदि हमारे-आपके जीवन में परमात्मा की मांग जाग्रत होगई, तो काम रह सकता है क्या ? बोलो, क्या राय है ? अगर जीवन में परमात्मा की मांग जाग्रत होगई, तो फिर कोई 'काम' रह जायेगा क्या ? नहीं रहेगा। कर्त्तव्य नहीं, 'काम' नहीं रहेगा। यानी संसार का आकर्षण नहीं रहेगा। परमात्मा की मांग से संसार का आकर्षण नाश होता है, संसार नहीं नाश होता है।

और आकर्षण के नाश होने से अपने आप आपको निर्विकारता, निर्विकल्पता प्राप्त होजायेगी। निर्विकल्पता जो है वह निस्संकल्पता से बहुत आगे की चीज है। यानी आप स्वतः निर्विकल्प होजायें, कोई विकल्प आप में नहीं रहे। क्यों ? संकल्प नहीं रहेगा, यों। संसार का आकर्षण नाश होने के बाद संकल्प का नाश होजाता है। और संकल्प का नाश होने से निर्विकल्पता आजाती है। और निर्विकल्पता में जीवन है,

रस है, स्वाधीनता है। इसमें कोई सन्देह की बात ही नहीं। इसलिये परमात्मा की प्राप्ति ही सर्वसुलभ है, बिल्कुल कठिन नहीं है।

श्रोता :—महाराज ! काम रहते हुए मांग अपने में उत्पन्न होसकती है क्या ?

स्वामीजी :—मांग बीज रूप से तो रहती ही है, स्ट्रोंग नहीं होती, सबल नहीं होसकती। यह भी विचित्रता है कि काम के रहते हुये मांग रहती तो है, लेकिन सबल नहीं रहती। काम के नाश होने से मांग सबल होती है और फिर पूरी होती है।

श्रोता :—मांग उत्पन्न हो जाने पर ही 'काम' नष्ट होता है, ऐसा आपने अभी-अभी.........?

स्वामीजी :—नहीं, नहीं। यह भी ठीक कहा। मांग जाग्रत होती है, मांग की पूर्ति भी होती है। और काम नाश नहीं हुआ है मान लीजिये थोड़ी देर के लिए, तो वही मांग की जाग्रति ही काम को नाश भी करती है। वैसे बीज रूप से तो मांग सभी में है। जैसे, अविनाशी जीवन किसको नहीं चाहिये ? भोगी को नहीं चाहिये क्या ?

श्रोता :—जी, चाहिए।

स्वामीजी :—इसका मतलब हुआ कि बीजरूप से तो माँग मौजूद है। परन्तु कठिनाई क्या है ? कि अविनाशी जीवन चाहिये—यह तो मांग बीजरूप से हुई। परन्तु, उस जीवन की प्राप्ति मुझे होसकती है—जब यह दृढ़तापूर्वक आप स्वीकार करेंगे; तब यह मांग सबल होजायेगी। मांग सबल होगी, काम

नाश होजायेगा। एक बात। दूसरी बात यह है कि काम की पूर्ति नहीं होती, काम में प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति का जो परिणाम है—शक्तिहीनता, असमर्थता, अभाव, नीरसता, पराधीनता प्राप्त होना है अपने को। वह किसी को पसन्द नहीं है।

श्रोता :—महाराज! ऐसे योगियों को भी काम-वासना में………?

स्वामीजी :—देखो भाई, यह तो आपने पर-चर्चा कर दी। जीवन की चर्चा तो खत्म होगई। गम्भीरता से सोचिये।

श्रोता :—यह तो अपने में भी अनुभव करता हूँ, स्वामीजी।

स्वामीजी :—मैं कब मना करता हूँ कि नहीं करते हैं? आपकी बात को गलत कहने का तो मेरा मतलब ही नहीं है। पर यह पर-चर्चा होगई! विवेकियों में भी काम रहता है। यह जो बात है न! और कामी में भी विवेक रहता है। तो विवेक के अनादर काल में काम रहता है कि आदर काल में?

श्रोता :—अनादर काल में।

स्वामीजी :—तो बस, तो मैं कहता हूँ—रोशनी होरही हो और कोई आँख में पट्टी बांध ले, तो उसमें आँख का अपराध तो नहीं है न? और न रोशनी का अपराध है, पट्टी का है। आपमें तो विवेक का प्रकाश, विश्वास का तत्व, बल का तत्व—ये तीनों प्रकार की शक्तियाँ हैं महानुभाव! प्रत्येक भाई में और बहन में ये हैं हीं। अगर बल का तत्व न होता, तो कुछ-न-कुछ कैसे करते?

श्रोता :—महाराज ! विषयाकर्षण में भी तो अपना बल है।

स्वामी जी :—देखिये, दृश्य में अपना बल है या हममें अपनी निर्बलता है ?

श्रोता :—हाँ, अपनी निर्बलता है। दृश्य में भी तो बल है आर्कषित करने का ?

स्वामीजी :—तो भाई, ऐसा न कह कर, कहें कि हमारी निर्बलता है कि दृश्य में आकर्षण होता है। और वह निर्बलता क्या है ? कि हम विवेक का अनादर करते हैं। जो विवेक का का प्रकाश है उसका ठीक आदर नहीं करते।

विवेक तो है। ऐसे ही परमात्मा तो है, पर मिलता नहीं है। क्यों ? हम उसको पसन्द ही नहीं करते। पसन्द करते हैं कुछ और, और चर्चा करते हैं परमात्मा की। इसलिए परमात्मा मिलता नहीं। इसमें कुसूर परमात्मा का नहीं है कि क्यों नहीं मिलता। यह अपनी ही भूल है, क्योंकि हम उसे पसन्द नहीं करते। ऐसे ही यह विवेक का अपराध नहीं है, अपनी ही भूल है कि हम विवेक का आदर नहीं करते, विश्वास विकल्प-रहित नहीं है।

२९

प्रेमियों ने कभी नहीं सोचा कि प्यारे कैसे हैं और मेरे साथ क्या करेंगे ! क्यों ? वे मानते हैं कि प्रभु उनके हैं और वे जानते हैं कि 'वे' जो करेंगे, वही मजे की बात होगी ।

सर्वस्व समर्पण में सभी शंकायें डूब जाती हैं ।

परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति साधक स्वयं अपने द्वारा करता है । आँख बन्द करने, कान बन्द करने, स्वांस रोकने, आसन लगाने अथवा मुद्रा साधने की आवश्यकता ही नहीं ।

जिसे लोग जड़-जगत् कहते हैं, यह प्रभु की ओर आकर्षित करने की उनकी लीला है । संसार बेचारा भगवान् को याद दिलाने के लिये आपकी पकड़ में ही नहीं आया !

इस तरह यह सारी सृष्टि हमें निरन्तर प्रभु से मिलाना चाहती है । लेकिन हम प्रभु से विमुख होकर सृष्टि को प्रभु से विमुख करते हैं ।

परमात्मा इतने महान् हैं, ऐसे परम सुहृद हैं कि यदि आप उन्हें पसन्द कर लेंगे, तो वे अवश्य आपको अपनालेंगे ।

२६

अ

प्रवचन :

जिसका कोई प्रिय होता है न ! उसके जीवन में नीरसता कभी नहीं आती। और जिसके जीवन में नीरसता नहीं आती, उसके जीवन में काम की उत्पत्ति होती नहीं - मुझे यह चाहिये कि मुझे वह चाहिये – यह तो नीरसता को मिटाने के लिये काम की उत्पत्ति होती है। नीरसता उत्पन्न होती है कब ? जिसका कोई प्रिय नहीं है, तब होती है। तो यह मान लिया कि 'प्रभु मेरे अपने हैं', 'अपने में हैं' - बाहर तलाश कहाँ करोगे ? 'अभी हैं'– तो आप भविष्य की आशा क्यों रखोगे ? 'समर्थ हैं'—तो डरने की बात क्या है ? 'अद्वितीय हैं' —तो कसौटी पर कसने की जरूरत ही नहीं है। अद्वितीय माने एक ही हैं। तो जब एक ही हैं, तो फिर कैसे हैं ? यह प्रश्न ही नहीं आता। तो प्रेमियों ने कभी यह नहीं सोचा कि 'वे' कैसे हैं ?—कभी नहीं सोचा। और यह भी कभी नहीं सोचा कि 'वे' मेरे साथ क्या करेंगे ! 'उनका' तो मुझ पर अधिकार ही है। मैं तो 'उनका' ही हूँ, इसलिये 'वे' जो करेंगे वही मजे की बात होगी, उसी में मजा आयेगा। और 'वे' कभी-भी मुझसे अलग नहीं होसकते।

अपनी सत्ता के बाहर 'वे' मुझे नहीं कर सकते, कभी भूल नहीं सकते। क्यों? अपने हैं, यों। कैसे भूलेंगे? कोई दो थोड़े ही हैं! जो यह सोचना पड़ेगा कि वे क्या करते हैं, कहाँ करते हैं? आप खुद ही सोचिये कि किसी का कोई अपना हो तो वह उसके सम्बन्ध में कहाँ सोचेगा कि तुम क्या करते हो? अपने हो, इसलिये मुझको प्यारे हो। जो तुम करते हो, उसी में मुझको मजा है।

अगर यह ताकत आ जाती है विश्वास के आधार पर साधक में, तब फिर वह बिल्कुल अचाह होजाता है। क्यों? अपनी कमी पूरी करने के लिए तो 'वे' अपने हैं ही। जब 'वे' अपने हैं, तो आप स्वयं सोचिये कि हमको क्या कमी रहेगी? बिल्कुल नहीं। क्या अभाव रहेगा? और फिर हमें क्या चाहिये? तो प्रेमीजन स्वभाव से अचाह होजाते हैं, चाह उनमें कोई नहीं रहती। जब चाह नहीं रहती, तो अशान्ति कहाँ से आयेगी?

अच्छा, कोई और उनका रहता नहीं. तो बन्धन कैसा? कोई और हो तब न! बन्धन हो। और जो अपना है, वह अपने में है ही है, तो बाहर तलाश कैसी? तो प्रेमियों के जीवन में न तलाश रहती है, न बन्धन रहता है, न किसी प्रकार की कमी रहती है। केवल 'वे' अपने हैं, अपने को प्यारे लगते हैं। ऐसी बात नहीं है कि हम उन्हें अपना मानते हैं, इसलिये 'वे' हमको प्यारे लगते हैं। अरे बाबा! हमें तो 'वे' अपना करके जानते ही हैं। इतना ही तो फर्क है! भक्त में, भगवान् में अन्तर क्या है? भक्त तो मानता है कि प्रभु अपने हैं और प्रभु जानते हैं कि भक्त मेरा है।

तो जब यह नियम ही है कि अपना अपने को प्यारा लगता ही है। तो हम तो 'उनको' प्यारे लगते ही हैं, हमें भी 'वे' प्यारे लगें—इसी का नाम भक्ति है। भक्ति का अर्थ यह थोड़े ही है कि हम कोई बैठ कर अभ्यास करेंगे और उसका परिणाम कुछ होगा। उसको भक्ति नहीं कहते। भक्ति मानें –भगवान् को हम प्यारे लगते ही हैं, हमें भी 'वे' प्यारे लगें। जब 'वे' हमें प्यारे लगते हैं, तब फिर हमें कुछ और भाता नहीं है। हमारी दृष्टि में कोई और रहता नहीं है। क्योंकि प्रेमियों की दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न कभी कुछ रहा नहीं, कभी-भी।

अब कोई और है नहीं, तो मन जायेगा कहा? अब कुछ चाहिये ही नहीं, तो अशान्ति कैसी? बताओ? तो मन के लिये कोई ठौर रहता है क्या, कि कहाँ जायेगा?

'प्रभु हैं'—इतने मात्र से, 'कोई और है'–यह बात जीवन में-से निकल जाती है। 'प्रभु हैं'–अगर ऐसा मानते हो, तो यह मान लो कि कोई और है नहीं। यह तो रहा ऊँचे-से-ऊँचा दर्शन। और सरलतापूर्वक ऐसा मानलो कि भाई, अपना कोई और नहीं है। इस पचड़े में न पड़ना हो, तो यह मानलो कि अपना कोई और नहीं है।

नहीं तो महाराज! यह दार्शनिक सत्य है कि अगर परमात्मा का अस्तित्व है, तो फिर जगत् का नहीं है। यह दार्शनिक सत्य है। अगर आत्मा का अस्तित्व है, तो शरीर का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि आप यह सोचिये कि शरीर का भी अस्तित्व हो, और आत्मा का भी अस्तित्व हो, और दोनों विपरीत हों। कभी आपने अंधकार और प्रकाश को मिलते देखा है?

श्रोता :—जी, नहीं।

स्वामी जी :– कोई बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक अन्धकार और प्रकाश को मिला कर दिखा सकता है ?

तो स्वयं प्रकाश आत्मा पर-प्रकाश्य शरीर के साथ कैसे मिल सकता है ? आप सोचिये। अखण्ड, अविनाशी, अनन्त, समर्थ, पूर्ण परमात्मा और सतत् परिवर्तनशील जगत् दो स्वतन्त्र सत्तायें कैसे मिल सकती हैं ? नहीं मिल सकतीं।

लेकिन अगर किसी को इस दार्शनिकता का बोध न हो और ये दार्शनिकता न भाती हो, तो वे भोले-भाले साधक यह कह देते हैं—'भैया, हमारा तो कोई और है नहीं।' कोई कहता है कि संसार है।—'होगा भैया !' कोई कहता है कि अमुक है।—'होगा भैया, पर हमारा कोई और नहीं है।'

अब यह बात हम अपने द्वारा न ! स्वीकार करेंगे ? इसमें आँख बन्द करेंगे कि कान बन्द करेंगे कि स्वांस रोकेंगे कि आसन लगायेंगे कि मुद्रा लगायेंगे ? क्या शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण इनके द्वारा हम यह बात स्वीकार करेंगे कि हमारा कोई और नहीं है ? या कि अपने द्वारा हम यह बात स्वीकार करेंगे कि हमारा कोई और नहीं है ? अपने द्वारा स्वीकार करेंगे। जब हमने अपने द्वारा यह स्वीकार कर लिया कि हमारा कोई और है नहीं और उसके बाद कुछ ऐसा मालूम हुआ कि भाई, कुछ चारों ओर मालूम होता है, तो भक्त लोग कह देते हैं कि यह सब हमारे प्यारे की लीला होगी।

जब यह मालूम होता है कि संसार है तो। अगर संसार भासित हुआ भक्तों को तो, वे संसार शब्द नहीं जानते हैं,

वे तो जानते ही नहीं। जब लोग कहते हैं कि संसार है। तो बोलते हैं कि 'हमारा तो कोई और है नहीं। होगा भैया !' लेकिन जब उन्हें मालूम होता है कि कुछ है, तब कहते हैं कि 'यह तो हमारे प्यारे की लीला है !'

अब आप सोचिये कि प्रभु विश्वासी साधक हर समय प्यारे की लीला को देखता है और प्यारे को अपना मानता है। तो अपना मानने से उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता है। और लीला देखने से उसको सुख मिलता है, रस नहीं। सुख मिलता है। क्योंकि अपने की कोई लीला देखे तो अपने को अच्छा लगता है कि नहीं ?—वाह प्यारे ! प्रातःकाल सूर्य उदय से पहले जब चिड़ियाँ चह चाहती हैं। तो जब प्रेमी देखता है कि 'प्यारे, तुम बड़े लीलाधारी हो ! तुम चिड़ियों के रूप में हमें सोते से जगा रहे हो ! तुम सूर्य के रूप में प्रकाश दे रहे हो ! तुम वायु के रूप में स्वांस लेने दे रहे हो ! तुम जल के रूप में प्यास बुझा रहे हो ! तुम भूमि के रूप में आश्रय दे रहे हो ! मेरे को सुख देने के लिये तुम अनेक प्रकार की नित-नव लीलायें कर रहे हो ! तुम्हीं मेरे अपने हो ! और कोई मेरा अपना नहीं है।

प्यारे ! एक ऐसी लीला भी करो, कि मैं तुमको ही अपना मानूं। मैं कोशिश करूं कि न मानूं, तब भी मेरे बस की बात न रहे !' अगर कुछ मांगना है प्रभु से, तो यही मांगो कि प्रभु मेरे बस की बात न रह जाय कि मैं किसी और को अपना मान पाऊँ, और मेरी दृष्टि में कोई और रह जाय अथवा मेरी दृष्टि कहीं और जाय। इतना ही नहीं, किसी और का अस्तित्व ही न रह जाय मेरी दृष्टि में ! जायेगी कहाँ दृष्टि ! जब किसी और का अस्तित्व मानूंगा तब न ! दृष्टि जायेगी।

जब किसी और का महत्व मानूंगा, तब न ! आकर्षण होगा ! तो 'प्रभु ! आप अपनी अहैतुकी कृपा से इतनी मुझ पर कृपा करना कि मेरी दृष्टि में किसी और का अस्तित्व, किसी और का महत्व न रह जाय। केवल तुम्हारा ही अस्तित्व रह जाय ! केवल तुम्हारा ही महत्व रह जाय और तुम्हीं में अपनत्व रह जाय !

अगर मैं किसी और के अस्तित्व को मान बैठा तो किसी और का महत्व भी न ! कहीं आजाय मेरी आस्था में, तो मैं तो आपसे विमुख होजाऊँगा !' अरे भाई, क्या भगवान् ने हमको अपने से विमुख किया है ? क्या किसी संसार ने कहा है कि तुम भगवान् से विमुख होजाओ ? अरे, संसार तो बेचारा भगवान् की याद दिलाने के लिये आपकी पकड़ में ही नहीं आया अभी तक ! आप तो बहुत बड़े... पकड़ पाये क्या ? आप सच मानिये, जिसे लोग जड़ जगत् कहते हैं यह प्रभु की ओर आर्काषित करने की उनकी लीला है। यह सारी सृष्टि हमें निरन्तर प्रभु से मिलाना चाहती है।

एक पुष्प खिलता है, आप उसे देख कर खुश होते हैं। उसको दुःख होता है—हाय ! हाय !! मुझमें जिसकी सुन्दरता है, मुझमें जिसकी सत्ता है, यह उसे नहीं देखता ! अब मैं नहीं जिन्दा रह सकता ! पुष्प मुरझा जाता है। आपको सन्देश देता है—तुम मुझको देखते हो ? मुझमें मेरा कुछ नहीं है, मुझमें जो सौन्दर्य है, वह उस अनन्त सौन्दर्य का है। मुझमें जो सत्ता है, वह उस स्वतन्त्र सत्ता की है। तुम मुझे मत देखो ! आप देखेंगे कि सारा संसार हमें और आपको सदैव इस ओर संकेत कर रहा है—मुझे मत देखो ! उसको देखो, जो तुममें है,

तुम्हारा है। मुझे मत देखो ! जब हम 'उनको' देखने लगते हैं, तब कह बैठते हैं – "दर-दीवार दरपन भयौ, जित देखूं तित तोय ! कंकड़, पत्थर, ठीपरी भई आरसी मोय !!" यह क्या है ? यह हमारी दृष्टि का परिवर्तन है। वास्तव में तो 'वे' हैं हीं।

आप सोचिये कि अगर किसी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह वस्तु हमारी पकड़ में आजाती। वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व प्रभु का ही है। अगर शराब में मस्त करने की ताकत होती तो बोतल को मस्त कर देती। यह ताकत प्रभु में है और प्रभु अपने में है, इसलिये वह मस्ती आती है। नहीं तो शराब से बोतल को मस्त हो जाना चाहिये।

अगर मान लीजिये, खुराक में शरीर को ताकत देने की ताकत होती, तो खुराक तो खाते ही रहे आप, कमजोरी आ कहाँ से गई ? बल नाश हो कहाँ से गया ? अगर संसार की भोग-सामग्री में सुख होता, तो भोग तो भोगते ही रहे। पर आज भूखे क्यों हैं ? आज अभाव क्यों है ?

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संसार की प्रत्येक गति-विधि भी हमें अपने प्यारे की ओर धकेल रही है, फेंक रही है। पर हम आपसे क्या बतायें ! जिस समय साधक प्रभु विश्वास को लेकर, सब ओर से विमुख होकर प्रभु की ओर आकर्षित होता है, उस समय यह सारी सृष्टि हर्ष मनाती है, जय-जयकार करती है। और आपके साथ-साथ स्वयं अपने प्रेमास्पद की ओर गतिशील होती है।

हम प्रभु से विमुख होकर सृष्टि को प्रभु से विमुख कर रहे हैं। और सृष्टि हमें सदैव संकेत दे रही है—"मुझे मत पकड़ो, मुझे मत मानों ! मुझमें मेरा करके कुछ नहीं है। जिसकी

तुमको मांग है, मुझको भी उसी की मांग है। पर 'वह' तुम्हीं में है! मुझमें वह होता तो मैं तुम्हें पेश कर देती। लेकिन वह तो तुम्हीं में है!"

जब तुम सब ओर से अपने को हटा लेते हो और प्रभु की ओर आकर्षित होने की आवश्यकता अनुभव करते हो। कोई आपको श्रम नहीं होता है, प्रभु की ओर चलने में। कोई आपको कठिनाई नहीं होती। केवल जब आप आवश्यकता अनुभव कर करते हो—"प्रभु! मेरा कोई और नहीं है, और मुझे कुछ नहीं चाहिये, आप ही मेरे अपने हो।" उसी समय सारी सृष्टि अपना भेष बदल-बदल कर आपसे अभिन्न होकर प्यारे की प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करती है।

आप जानते हैं, लोग कहते हैं—'सिया राम मय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरु जुग पाणी।" अरे बाबा! सिया और राम ही तो हैं! और कुछ है थोड़े ही! सिया और राम ही तो हैं! इसलिये सृष्टि भी हममें बिलीन होजाती है। हम 'उनकी' प्रीति होजाते हैं। और प्रीति होकर उनको जब रस मिलता है, तो प्रीतम स्वयं प्रीति होते हैं। 'उनकी' ओर से आई हुई प्रीति जब लौट कर उनकी ओर जाती है, तो रस का कोई वारापार नहीं रहता। और ये प्रीति और प्रीतम का जो नित्य विहार है, इसकी कोई सीमा नहीं है। इसका कभी नाश नहीं होता। यह अविनाशी है, यह असीम है, यह अनन्त है। इसीलिए कहा गया है कि प्रीति जो है वह प्रीतम को रस प्रदान करती है।

वास्तव में प्रीति आती कहाँ से है? उसमें सत्ता किसकी है? 'उन्हीं' से आती है। अगर उन्हें प्यारे न लगते होते, तो सच

मानिये, हमें कभी याद तक न आती। यह जो हर भाई के जीवन में, हर बहन के जीवन में एक उदासी रहती है, एक अभाव रहता है, सोचता रहता है कि—कहाँ रस है ? कहाँ जीवन है ? कहाँ पूर्णता है ? और उसके लिए अपनी भूल से जब परिस्थितियों की ओर सम्बन्ध जोड़ता है, सृष्टि की ओर सम्बन्ध जोड़ता है, तो एक बार नहीं, अनेक बार धोखा खाता है, प्रत्येक पल में धोखा खाता है। प्रीतम कहाँ हैं ! रस कहाँ है ! जीवन कहाँ है ! पता चलता है कि अपने में है, अपने में है।

अब अपने में अपना प्रीतम है—यह आस्था ही वास्तव में आस्था है। तो जब हम अपने में अपने प्रीतम को स्वीकार करते हैं, तब स्वभाव से सब ओर से विमुख होते हैं। स्वभाव से हमारी गति अन्तर्मुख होजाती है। आजकल लोग कहते हैं—अन्तर्मुख गति करो। पत्थर करो। अरे बाबा ! जब हम अपने में अपने प्रीतम को स्वीकार करेंगे, तब गति अन्तर्मुख होती ही है। तो जो चीज होती है वह है—साधना। और जो "है" वह है साध्य।

तो साधना भी हममें है और साध्य भी हममें है। तो साधना से साध्य को रस मिलता है। और हम असाधन-रहित होते हैं। लेकिन जब हम असाधन-रहित होजाते हैं तो साधना जो है वह प्रियता के रूप में परिणत होजाती है। फिर उसका एक ही रूप होजाता है अद्वितीय रूप—प्रियता, अखण्ड प्रियता, अगाध प्रियता।

आप देखेंगे, प्रियता 'प्रिय' को रस देती है और उसका कोई काम ही नहीं है। और प्रियता कभी पूरी नहीं होती, कभी उसका नाश नहीं होता। उसी प्रियता को भक्ति-तत्व भी कहते हैं, उसी प्रियता को। उसी प्रियता का जो बाह्य रूप आता है व्यवहार के क्षेत्र में वह "सेवा" कहलाती है। उसी

प्रियता का जो विचार का रूप होता है वह "त्याग" कहलाता है। और जब ये तीनों चीजें इकट्ठी होजाती हैं—सेवा, त्याग, प्रेम—वही भक्ति है।

उस भक्ति से भगवान् को रस मिलता है। असल में भगवान् को रस भगवान् की भक्ति देती है। लेकिन उस भक्ति को अभिव्यक्त होने के लिये हमें और आपको भक्त होना है। भक्त होने का अर्थ क्या है?—भगवान् से जातीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध और आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना है।

कभी किसी सद्ग्रन्थ ने यह नहीं कहा कि वह भी समय कभी आता है, जब गौरी और शंकर का विहार समाप्त होता है। कभी नहीं कहा, कभी नहीं कहा। कभी किसी भक्त ने यह नहीं कहा कि वह भी समय कभी आता है, जब सीता और राम का विहार समाप्त होता है। कभी नहीं कहा कि राधा और कृष्ण का विहार समाप्त होता है। आप ही बताइये कि प्रीति और प्रीतम का विहार कैसे समाप्त होजायेगा? कभी समाप्त होता ही नहीं।

इसलिये वही जीवन है, वही अविनाशी है। यह जो जीवन का अभाव है, यह जीवन की जो नीरसता है वह तभी समाप्त होगी, जब हमीं में अर्थात् भक्त में भक्ति का अवतरण हो। अब भक्ति का अवतरण - ये अपने आप होता है। और सत्संग के द्वारा हम भक्त होते हैं। सत्संग का अर्थ क्या है? सत्य को स्वीकार करने से हम भक्त होते हैं। "सत्य" क्या है?—जिसे मैं देखता था, जिसकी ओर मैं दौड़ता था, वह है नहीं। क्यों नहीं है? क्या दलील है?— होता तो मुझे मिलता! वह है नहीं। अर्थात् सृष्टि है नहीं।

किन्तु है क्या ? जब मैं इस सत्य को स्वीकार करता हूँ कि सृष्टि नहीं है, तब अपने आप स्वतः स्वभाव से समस्त इन्द्रियाँ अपने विषय से विमुख होकर मन में विलीन होती हैं, मन निर्विकल्प होता है, बुद्धि सम होती है।

यह किस बात का फल है ?—यह इस बात का फल है कि सृष्टि नहीं है—केवल इसका। या मेरे लिए नहीं है भाई—जैसा कि कहा था। सृष्टि नहीं है—इसका फल है कि आपको जो अपने और अपने प्रीतम के बीच में जो दूरी मालूम होती है, वह समाप्त होजाय और प्रीतम की समीपता की उपलब्धि होजाय। इसको योग कहते हैं। परमात्मा से जो हमें समीपता प्राप्त होती है न! वह योग से होती है। सृष्टि नहीं है—इस सत्य को स्वीकार करने के बाद अपने आप योग की अभिव्यक्ति होती है। उस योग के बाद जो उस योग में गति है, तो पहले वह योग "बोध" में परिवर्तित होता है। क्योंकि जिसकी हमें समीपता प्राप्त होती है, उसके साथ हमारी एकता भी होती है। और उसके बाद "बोध" जो है वह "प्रेम" में परिणत होता है।

तो तात्पर्य क्या निकला ? कि प्रिय-मिलन के लिये योग, बोध और प्रेम अपेक्षित होगया। और योग, बोध, प्रेम के लिये केवल एक ही सत्य—मेरा कोई और नहीं है, किसी और का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कोई और है नहीं। हो सकता नहीं, कभी होगा नहीं।

कोई और नहीं है—यह ज्ञान है। और कोई गैर नहीं है—यह आस्था है। गैर नहीं है कोई—अर्थात् अपने ही हैं। अगर यह बात जब आजाती है जीवन में कि कोई और है नहीं, तभी भक्त लोग कह बैठते हैं—कि मेरे मन में किसी और के लिये

तो ठौर ही नहीं है। और जब ये बात आजाती है कि कोई गैर नहीं है, तब भक्त लोग कह उठते हैं कि मेरे पास मन ही नहीं है।

यह सब जो भक्त-चरित्र है, भक्त-गाथा है— ये भक्ति-तत्त्व की ओर ले जाने का संकेत है, इशारा है। क्या सोचते हो? कोई और तो है नहीं। अरे, इतना ही नहीं, गैर भी तो नहीं है कोई? जहाँ गैरियत मिटती है, वहाँ न! प्रियता उदित होती है। जहाँ और-पन मिटता है, वहाँ न! अभयपन होता है। इसका अनुभव कीजियेगा। जब तक कोई और होता है, तब तक न! भय होता है। जब तक गैरियत होती है, तब तक प्रेम पैदा होता है क्या? नहीं, तब तक प्रेम नहीं पैदा होता। तो कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है—यदि इस सद्गुरु वाक्य में हमारी आस्था होजाय, यदि हमारा विश्वास होजाय तो महाराज! अभी-अभी हम सब भक्त होजायँ। और भक्त होने के बाद भगवत्-कृपा से स्वतः भक्ति की अभिव्यक्ति होजाय। और भक्ति की अभिव्यक्ति होने से यह जीवन भगवान् के काम आजाय। यही इस जीवन का सार सर्वस्व है। हम-सब प्रभु की कृपा से भक्त होकर भक्ति-तत्व में प्रवेश पा जायँ, जिससे भगवान् को रस मिले।

इसी सद्भावना के साथ सभी को प्रणाम्!

२६

ब

जिस समय आपका देश आजाद हुआ था, अंग्रेजी शासन यहाँ से समाप्त हुआ था, उस समय मैंने राजेन्द्र बाबू से पूछा कि—"बाबू जी ! यह बताइये कि लीडरी का अन्त यदि मिनिस्ट्री में हो जायेगा तो लीडर कहाँ से आयेगा ?' और वही हुआ। नतीजा यह हुआ कि देश नेता-विहीन होगया। आप देखिये, आज देश की नैतिकता कितनी गिर गई ! गिर गई कि नहीं ? जी ? गिर गई न ?

श्रोता :—हाँ।

स्वामी जी :—मतलब क्या हुआ ? जो नेता मिनिस्टर बन जायेगा। जी ? तो नेता नहीं रहेगा। तो सरकार में और प्रजा में एकता कौन रखेगा ? क्या राय है ? नेता ही रख सकता है। समझ में आ गया न ?

इसी तरह से अगर सेवा का अन्त त्याग में नहीं हुआ तो सेवा क्या हुई ! सेवा क्या हुई ? सेवा तो नहीं हुई। और त्याग का अर्थ क्या है भैया ? त्याग का अर्थ केवल घर छोड़ देना नहीं है, हिमालय की कन्दरा में घुस जाना नहीं है। त्याग का अर्थ है कि हर मानव, हर भाई, हर बहन ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करे कि संसार में मेरा कुछ नहीं है। त्याग का एक अंग। दूसरा अंग—मुझे कुछ नहीं चाहिये। मेरा कुछ नहीं है,

मुझे कुछ नहीं चाहिए। जहाँ मेरा कुछ नहीं है तो शरीर और ससार का तो विभाजन हो ही नहीं सकता। यानी तीनों शरीरों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं हैं, मेरे नहीं हैं। संसार से मुझे कुछ चाहिए नहीं। मिला हुआ मेरा नहीं है। दिखाई देता है उससे कुछ चाहिये नहीं। यह हुआ त्याग।

इस त्याग का फल होता है कि आप अपने में सन्तुष्ट हो जायँ अपने आप। और जब आप अपने में सन्तुष्ट होजाते हैं तो फिर भगवान् की वाणी है—गीता भगवती—देखो. मेरी आदत नहीं प्रमाण देने की, पर आप लोग मानेंगे थोड़े ही— तो उसमें लिखा है कि आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्म सन्तुष्टि होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। पढ़ लेना। (हास्य) तो आत्म-सन्तुष्टि अपने में सन्तुष्ट होने से तीन चीजें मिल जायेंगीं—अविनाशी-जीवन, स्वाधीन-जीवन, रस-रूप जीवन। रस-रूप जीवन कहो, चाहे प्रेम कहो। स्वाधीन-जीवन कहो, चाहे मुक्ति कहो। अविनाशी-जीवन कहो, चाहे नित्य जीवन कहो।

तो अगर आपको स्वाधीन, अविनाशी, रसरूप जीवन चाहिये तो अपने में अपने को सन्तुष्ट करना ही होगा। अब कोई कहे कि साहब, अपने में सन्तुष्ट करने से यह क्यों मिल जायेगा ? तो वहाँ मैं यह कहता हूँ कि भाई, अपने में परमात्मा है। ये तीनों विशेषण परमात्मा के हैं—जिसका कभी नाश न हो, जो परम स्वतन्त्र हो, जो अगाध-अनन्त रसरूप हो—ये परमात्मा ही के लिये विशेषण हैं। अनन्त रस, परम स्वतन्त्र, अविनाशी परमात्मा ही है। तो इसलिए, चूंकि अपने में सन्तुष्ट होजायेंगे तो परमात्मा मिल जायेगा।

अब हम बेपढ़े-लिखे लोग तो ऐसे सन्तोष करते हैं। और पढ़े-लिखे लोग क्या कहते हैं ? कि साहब, वह तो मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मुझमें नहीं है—यह पढ़े-लिखों की बात है भाई। तो वे जाने। यह भी एक तरीका है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि वह पद्धति गलत है। वह भी है एक। पर मैं उससे परिचित नहीं हूँ। मैं इससे परिचित हूँ कि यदि मनुष्य चाहे तो शरणागत होकर, चाहे अचाह होकर, चाहे बल के सदुपयोग के द्वारा—जरूरी काम पूरा करके, बिना जरूरी काम छोड़ के—किसी तरह से अपने में सन्तुष्ट होजाना चाहिये। तो आपको अपने में परमात्मा मिल जायेगा। अवश्य मिल जायेगा। और यह कहने-सुनने की बात नहीं है, यह तो आपके अभी अनुभव करने की बात है। आप अपने में सन्तुष्ट होकर देखिये तो सही। आप बिना अचाह हुये आप अपने में सन्तुष्ट हो नहीं सकते, जरूरी काम बिना पूरा किये अपने में सन्तुष्ट हो नहीं सकते। बिना जरूरी काम को बिना छोड़े सन्तुष्ट हो नहीं सकते, समर्पित हुये बिना हो नहीं सकते।

तो चाहे आस्था के आधार पर शरणागत होकर अपने में सन्तुष्ट होजाइये, चाहे कर्त्तव्य-पथ से अपने में सन्तुष्ट होजाइये, चाहे विचार-पथ से अपने में सन्तुष्ट होजाइये। अपने में सन्तुष्ट होने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह अनुभव सिद्ध सत्य है। फिर भी न जचे तो मत मानिये। इसमें कोई आपत्ति तो है नहीं, मेरा कोई आग्रह तो है नहीं। मैं यह थोड़े ही कहता हूँ कि जो मैं कहता हूँ, सो आप मान लीजिये। लेकिन अगर आपकी समस्या हल हो, तो मान लीजिये, नहीं तो मत मानिये। अनेकों मार्ग हैं, अनेकों लोग हुए हैं, अनेकों ढंग से एक ही परमात्मा को प्राप्त किया है, कोई एक ढंग से तो किया नहीं है।

अरे, जब दो व्यक्ति भी समान योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के नहीं हैं, तो सबकी एक साधना कैसे होसकती है ? एक तरीका कैसे होसकता है ? अलग-अलग ही होगा। तो मेरा निवेदन यह था कि आप अगर भगवान् को मानते ही हैं तो मानिये। मैं मजबूर नहीं करता हूँ। क्योंकि इससे बड़ा मैं भगवान् का क्या अपमान करूंगा कि आपसे प्रार्थना करूं कि आप मान लीजिये ! तो हमारे भगवान् इतने घटिया होगये कि जो आपसे प्रार्थना की जाय ? यह तो मैं बड़ा भारी अपमान समझता हूँ भगवान् का। हाँ, अगर आपका काम नहीं चलता, तो मान लीजिये। तो वे इतने उदार हैं ! इतने महान् हैं ! इतने परम सुहृद हैं ! कि अगर आप उनको पसन्द कर लेंगे तो वे आपको अवश्य अपनालेंगे। चाहे आपका भूतकाल कैसा ही बीता हो !

आप विचार कीजिये, अमूल्य परमात्मा, अनमोल परमात्मा आपके छोटे-मोटे मोलों से नहीं मिला करता। क्या सीमित गुणों से कहीं अनन्त गुणों वाला प्राप्त हुआ है ? कहीं सीमित बल से अनन्त बलवाला प्राप्त हुआ है ? असम्भव, सर्वदा असम्भव ! हाँ, समर्थ की प्राप्ति का एक ही जरिया है कि उसको पसन्द कीजिये, उसके होकर रहिये, उसके नाते वर्तमान कार्य को विधिवत् कीजिए। यह उसकी पूजा है।

आप काम करते हो, हम कहते हैं भाई ! पूजा करो। आप अभ्यास करते हो, हम कहते हैं कि स्वीकार करो। आप बौद्धिक परिश्रम करते हो, हम कहते हैं भाई ! ज्ञानपूर्वक अनुभव करो। इतना ही तो फर्क है। और तो कोई फर्क है ही नहीं। बाकी मैं आप जो करते हो, उसका विरोध थोड़े ही करता हूँ। मेरा विरोध नहीं है। किसी भी साधन-प्रणाली से मेरा विरोध नहीं है।

हम क्या बतायें ! हमारे यहाँ एक दफा आश्रम में एक अंग्रेज आया। और उन दिनों साधन-सत्संग मास चल रहा था। एक महीने के लिये सत्संग आयोजन किया था। तो उसने कहा—क्या मेरा हर बैठक में (हर सिटिंग कहते हैं अंग्रेजी में शायद), बैठना-शामिल होना जरूरी है ? मैंने कहा—बिल्कुल नहीं। बोला, तब भी मैं यहाँ ठहर सकता हूँ ? मैंने कहा—जरूर ठहर सकते हो। अरे, हम अपनी बैठक का अपमान करें कि आपके बैठने से हमारी बैठक बनेगी ! तो उसने कहा—कि ऐसा तो मैंने आश्रम देखा नहीं, जहाँ इतनी स्वाधीनता हो। फिर उसने कहा—आप मुझे मैंगीटेशन बता सकते हैं क्या ? ध्यान करना बता सकते हैं क्या ? मैंने कहा—नहीं। बोले, क्यों ? मैंने कहा—तुमसे होगा नहीं, यों। (हास्य) अरे, भाई ! बताया जाय और न हो, तो लाभ क्या हुआ ?

तो मैं यह निवेदन करता हूँ आपसे कि अगर परमात्मा के मानने वालों को परमात्मा की याद नहीं आती, और करनी पड़ती है—यह कोई कम दुःख की बात है ? यह कम आश्चर्य की बात है ? क्यों भैया ? अरे, मरे हुये बुजुर्गों की याद आती है आपको, गये हुए धन की याद आती है आपको। नहीं आती ? जी ? तो परमात्मा इतना घटिया होगया कि उसकी याद आपको करनी पड़े ? क्या राय है ?

श्रोता :—कुछ संस्कार ...... ?

स्वामी जी :—बेकार बात मत करो यार। संस्कार-फंस्कार कुछ नहीं। गलत बात। मैं बताता हूं। याद नहीं आती है इसलिये कि आप अपना नहीं मानते। देखो, संस्कार सामने आसकता है। अगर 'हाँ' न करें तो मिट जाता है। वह मन्त्र

भी हमको मालूम है। लेकिन लोग तो प्रश्न करते ही नहीं। हम कहाँ से क्यों, अपनी तरफ से क्या खोज-खोज कर निकालें ? जितने संस्कार हैं, वे क्या काम करेंगे ? संस्कार होते हैं भोगे हुये के। जिन सुखों को आपने भोगा है, उनका ख्याल आयेगा। यही न ! संस्कार है ? बोलो ? और तो नहीं है न ? तो पहले मानो, तो आगे बढ़ूं। बिल्कुल यही है न ?

श्रोता :—हाँ।

स्वामी जी :—अच्छा, कोई आपके सामने चाय का कप रखे और आप न पियें, तो चाय देखने से आपको पाप लग जायेगा क्या ? बोलो ? और संस्कार आया और आपने समर्थन नहीं किया। क्या करेगा वह ?

श्रोता :—समर्थन कैसे न करें ?

स्वामी जी :—हमारी राय है, न करो। संस्कार का समर्थन न करना—यह अपने हाथ की बात है। संस्कार को चिन्तन से मिटाना बिल्कुल अपने हाथ की बात नहीं है।

श्रोता :—महाराज ! भीतर क्या है जो समर्थन करा देता है ?

स्वामी जी :—देखो भाई, समर्थन कुछ नहीं करा देता है। तुम लोगों को तो भ्रम होगया है। आप लोगों को यह भ्रम होगया है कि हम बलपूर्वक संस्कार मिटा लेंगे। यह भ्रम होगया है कि हम चिन्तन से चिन्तन को मिटा लेंगे।

मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जो होने वाला चिन्तन है न ! उसको आप करने वाले चिन्तन से मिटाना चाहते हो—यह कभी नहीं मिटेगा। करने वाला अखण्ड है नहीं। अब होनें

वाला चिन्तन मिटता है होने वाली स्मृति से। यानी होने वाला चिन्तन मिटता है होने वाले चिन्तन से। तुम होने वाले चिन्तन को मिटाना चाहते हो करने वाले चिन्तन से। उससे डरते क्यों हो ? देखते रहो, बिल्कुल देखते रहो। अगर तुम 'हाँ' नहीं करोगे, तो वह नाश होजायेगा। और उससे लड़ोगे नहीं, तब भी नाश होजायेगा। और उससे अपने को मिलाओगे नहीं, तब भी नाश होजायेगा। तीन तरह से नाश होजायेगा—हाँ, मत करो, उससे लड़ो मत, उससे अपने को मिलाओ मत।

एक दिन की घटना याद आगई। हमारे पास तो बहुत बड़े-बड़े तार्किक आते हैं। देवकी जी शुरू-शुरू में आईं थीं। उस समय की बात कहता हूँ। बहुत तर्क करतीं थीं। मनोविज्ञान की पण्डित ठहरीं भाई। तो ऐसी-ऐसी दलीलें रखतीं थीं कि हम आपको क्या बतायें ! हम टहलने जाते थे कई आदमी मिलकर और जाकर बैठते थे एक जगह। वहाँ हमने कोई एक पत्थर उठाया। और उठाकर उसे खूब प्यार किया और ईमानदारी से प्यार किया, कभी आंसू भी आजायें। जैसे ईमानदारी से प्यार करते हैं शरीर द्वारा प्यार किया। और वहाँ से चलें तो कहदें 'देखो भाई, कल फिर मिलना।' चले आयें। दूसरे दिन जायँ, बैठ जायँ। हमारा हाथ उसी पत्थर पर चला जाय। हमने किसी से पूछा नहीं कि हमारा पत्थर ढूंढ दो। आँखों से अन्धे। कई दिन तक यह होता रहा। लड़कियाँ कहें कि स्वामी जी क्या करते हैं ये ? कहा कि कुछ नहीं करते हैं। आखिर जब कई दिन होगए हमको वह पत्थर मिलता ही रहा। तो हमने देवकी जी से पूछा कि देवकी जी ! बताओ तुमने देखा ? मैंने पत्थर को तुमसे दिखवाया था क्या ?—नहीं तो। अच्छा, मिल जाता था कि नहीं ?—हाँ

मिल जाता था। तो देखो, प्यार ऐसी चीज है जो पत्थर को भी पसन्द आता है, तो परमात्मा को पसन्द नहीं आयेगा ? (हास्य)।

तो भाई, होने वाले चिन्तन को आप मिटा नहीं सकते। और इसमें आप ही के जीवन का अनुभव है कि कितना काल बीत गया आपको चिन्तन करते-करते। ऐसा-वैसा मानकर आपको थोड़े ही कहता हूँ। आपको वर्षों होगया जप करते हुए, वर्षों होगया चिन्तन करते हुए, वर्षों होगया पोथी पढ़ते हुए, वर्षों होगया अभ्यास करते—नहीं हो गया क्या ? फिर भी आपको वही शिकायत है। नहीं तो आपकी शिकायत नहीं होनी चाहिए थी।

श्रोता :—महाराज ! इस अनर्थ का हेतु संस्कार है ?

स्वामीजी :—संस्कार अनर्थ का हेतु नहीं है। अनर्थ का हेतु वह कर्म है जिससे संस्कार बना है। लेकिन आप मनो-विज्ञान के अपरिचित से मालूम होते हो। द्वेष का चिन्तन करते-करते, संसार की निन्दा करते-करते निन्दनीय स्वभाव बन गया है हमारा। कोई चीज अनर्थ का हेतु नहीं है। हमारी भूल अनर्थ का हेतु है। और भूल यही है कि हम संस्कार का समर्थन न करें। बस, खतम। हम परमात्मा को पसन्द करें। हम बुराई न करें, हम भलाई का अभिमान न रखें। ठीक।

देखिए, आप जो कहते हैं, वह तो बहुत बड़ी ऊँची बात कहते हैं और परम्परा की बात कहते हैं। किन्तु सारे शास्त्रों का ज्ञान नहीं है आपको। माफ कीजिए, बुरा मत मानियेगा। शास्त्रों में पूर्व पक्ष भी होता है और उत्तर पक्ष भी होता है।

एक पुरानी कहावत है कि महाभारत की कथा हुई। किसी नें अपनी पत्नी से पूछा कि तुमने क्या समझा ? पत्नी ने कहा कि मैंने यह समझा कि द्रोपदी ने पाँच पति किए थे, मैं भी करूंगी। उन्होंने भाई से पूछा कि तुमने क्या समझा ? उसने कहा कि दुर्योधन ने कहा था कि सुई की नौक के बराबर भी नहीं दूंगा, इसलिए मैं भी तुम्हें हिस्सा नहीं दूंगा। तो भैया, शास्त्र पढ़ने के लिए गुरू चाहिये। और गुरू उसे कहते हैं जिसका अज्ञान निवृत्त होगया हो। नहीं तो ये प्रेस वाले सभी शास्त्रों की पुनरावृत्ति करते रहते हैं। शास्त्रों को समझना कोई मजाक है क्या ? अरे, तुम अपनी बात को तो समझ नहीं पाते, शास्त्र की बात समझलोगे ? इसलिए उसकी बात नहीं करता हूँ। मैं तो शास्त्रों को हाथ जोड़ता हूँ, वैसे ही।

आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ, शास्त्रों के आधार पर अकारण ही हम लोग एकाध बात कर डालते हैं और डरने लगते हैं। सो डरो मत ! धीरज रखो। सन्तों का ज्ञान, आपका ज्ञान, वेदों का ज्ञान—इसमें एकता है। ऐसी घटना सुनादूं आपको।

एक दफा, मैं गंगा किनारे बैठा था। अच्युत मुनि महाराज वेदान्त के अद्वितीय पंडित माने जाते थे। लाहौर कालिज में प्रोफ़ेसर थे। पं० जगतराम नाम था, फिर अच्युत मुनि हुए। वे मुझसे अपने आप कहने लगे—"शरणानन्द !" मैंने कहा—"हाँ महाराज !" बोले, "तू जानता है अज्ञान क्या है ?" मैंने कहा—"मुझे क्या मालूम अज्ञान क्या है और शरणानन्द को ज्ञान-अज्ञान से क्या मतलब ? जो बेमालिक का हो, जिसका कोई आधार न हो वह सोचे।" बोले, "देख भैया, सबसे बड़ा अज्ञान यह है कि लोग समझते हैं कि वेदव्यास में ज्यादा ज्ञान था और मुझमें कम है।"

श्रोता :—बात यह आई कि जो 'होरहा है' वह 'क्रिया' से नहीं मिटेगा। करके मिटाना चाहते हो— यह भ्रम है ?

स्वामीजी :—हमारे जानते सम्भव नहीं है।

श्रोता :—आपके अनुभव में न आवे, यह बात दूसरी है। आपको न जचे, यह दूसरी बात है।

स्वामीजी :—किसी का मिट जाय तो मुझे क्या ऐतराज है बाबा ? मैंने कभी यह थोड़े ही कहा है कि सारी दुनिया इसको मानले। मैं तो बड़ी ईमानदारी से कह रहा हूँ कि यह भ्रम है और नहीं मिटा है। और इसका अनुभव लोगों का जीवन भी है जो मुझसे सवाल करते हैं। अब यही क्रिया की जो बात है, इसका मैं दूसरा अर्थ लेता हूँ। धर्म का मतलब यह है कि जो नहीं करना चाहिए उसको छोड़दो, तो जो करना चाहिए, वह होने लगेगा, वह 'होने में' आजावेगा।

श्रोता :—फिर करना तो होगया महाराज ?

स्वामीजी :—अब आप जबरदस्ती क्यों करते हो महाराज ? जबरदस्ती मत करो, वही मानो। सब लोग वही मानलें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन आप मेरी बात पूरी सुन लेनें दीजिए, और आप भी सुन लीजिए। कि 'न करने वाली बात' छोड़ देने से 'करने वाली बात' अपनें आप होती है—ऐसा मैं मानता हूँ। जैसे, अगर कोई झूठ बोलना छोड़दे, तो सत्य बोलने के लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा, अपनें आप सच बोलने लगेगा। जैसे कोई बेईमानी करना छोड़दे तो ईमानदारी के लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा। ऐसे ही कोई संसार का चिन्तन छोड़दे—मैं नहीं करूंगा— और

अपनें आप सामने आये तो उसका समर्थन न करे। यही उसका छोड़ना है। मैंने तीन बातें बताईं न !—उसका समर्थन न करे, उससे मिलाये नहीं, और लड़े नहीं। क्योंकि लड़ने से उसकी सत्ता बन जाती है, न लड़ने से वह अपने आप मिट जाता है।

श्रोता :—महाराज जी, आप जो यह बात बोलते हैं न ! इस बात की आवृत्ति मुझे बहुत बार सुनने को मिलती है। लेकिन दूसरे जो कर रहे हैं, उस पर भी तो विचार करना चाहिए। आप उसे भ्रम क्यों कहते हैं ?

स्वामीजी :- हमको भ्रम लगता है, इसलिए भ्रम कहते हैं। कोई पाप नहीं करते। हम झूठ नहीं बोलते, हम धोखा नहीं देते। अब मैं कहता हूँ कि लोग आपकी बात मानलें, मैं अपनी बात वापस कर लेता हूँ।

श्रोता :—अपने अनुभव की बात मैं आपके सामने रखदूं।

स्वामीजी :- मैं आपसे निवेदन करता हूं कि आपका अनुभव आपके लिए सत्य है, मेरा अनुभव मेरे लिए सत्य है। आपके अनुभव को लोग मानलें, मेरी बात को न मानें। मुझे कोई ऐतराज नहीं, मुझे कोई आपत्ति नहीं।

श्रोता :—नहीं मानने का तो प्रश्न ही नहीं कहूं मैं, लेकिन भ्रम ...... ?

स्वामीजी :—देखिये महाराज ! मुझे तो भ्रम लग रहा है, इसलिए भ्रम कहता हूं।

श्रोता :—जैसे एक आदमी को बुरे संकल्प होरहे हैं, तो बुरे संकल्प को मिटाने ... ?

स्वामीजी :—महाराज ! किसको समझा रहे हैं ? मुझको कि इनको ?

श्रोता :—नामरूप का वह चिन्तन करे, तो बुरे संकल्प मिटेंगे। उससे वह बुरे संकल्प अपने आप मिटेंगे महाराज जी।

स्वामी जी :—महाराज ! किसे समझाते हो ? मुझे कि इन लोगों को ? आप तो समझे हुए हैं ही, मैं मानने वाला हूं नहीं। (हास्य) मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूं कि मैं कहाँ मना करता हूं ? बिना वजह मुझे क्यों लांछन लगाते हो ? मैंने किसको मना किया है कि नामरूप का चिन्तन करना छोड़दो, मैंने तो किसी को मना किया नहीं। श्रद्धेय गोइन्का जी कहते थे कि 'शरणानन्द का और हमारा १४ आने सिद्धान्त मिलता है, दो आने नहीं मिलता है।' मैंने पूछा—कौनसा नहीं मिलता है ? 'वह भजन-ध्यान की बात नहीं करता है।' तो मैंने कहा कि क्या मैं विरोध करता हूं ? 'विरोध तो नहीं करता।' मैं कहता हूं कि सबका (व्यर्थ चिन्तन) मिट जाय तो मेरा कोई नुकसान नहीं है। पर मेरे तो कान पक गए सुनते-सुनते। क्या आप जानते हैं ?—समझ में आती है बात, ठीक मालूम होती है, पर जीवन में नहीं उतरी। चालीस-चालीस वर्ष के सत्संगी यह कहते हैं। तो मुझे जनता जनार्दन की सेवा करना है, ईमानदारी से करना है, और मेरा विरोध है ही नहीं। मैं कोई भगवत्-चिन्तन का विरोधी हूँ ? मैं तो भगवत्-चिन्तन का विरोधी नहीं हूँ। मैं न ध्यान का विरोधी, न चिन्तन का विरोधी। लेकिन 'होने वाला चिन्तन', 'करने वाले चिन्तन' से मिटता होगा—मेरा ऐसा विश्वास नहीं है। किसी का मिट जाये, तो मुझे ऐतराज भी नहीं है ! मुझे काहे

का एतराज होगा भैया ? भगवान् करे, सबका मिट जाय। बड़ी सुन्दर बात। मैं तो प्रार्थना करता हूँ, उसमें भी यही कहता हूँ कि विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें। सबका भला चाहता हूँ। मैं किसी का बुरा चाहता हूँ क्या ? मैं किसी सिद्धान्त का विरोध करता हूँ क्या ? आग्रह रखता हूँ क्या ? पर मुझसे जो बात पूछो, तो मैं यह जानता हूँ और आपको न जचे तो मत मानो। बिल्कुल मत मानो। सभी बातें तो कोई किसी की मानता भी नहीं है। और सभी की मानी होती तो आज सुनने की जरूरत ही क्या रहती ? इतने दिन होगये सुनते-सुनते, अगर मानली गई होती बात तो सुनने की जरूरत ही नहीं रहती।

मेरा नम्र निवेदन इतना ही है, मेरा अनुभव यही है कि 'होने वाला चिन्तन', 'होने वाले चिन्तन' से मिटेगा। वह 'होनेवाला चिन्तन' जो होगा, वह 'स्मृति' के रूप में होगा, 'प्रियता' के रूप में होगा। और स्मृति जो होगी, वह 'स्व' में उदय होगी। उसके लिए शरीर की आवश्यकता नहीं होगी, करण की अपेक्षा नहीं होगी। अगर यह बात नहीं जची है, तो न मानी जाय। मैं तो कभी आग्रह नहीं करता हूँ। मैं तो कहता हूँ कि आपकी बातों से लोगों का कल्याण होजाय। सुन्दर बात। मुझे कल्याण अभीष्ट है। मुझे कोई अपना मत तो अभीष्ट है नहीं।

श्रोता—महाराज ! मेरा तो इतना ही निवेदन था·······?

स्वामीजी :—आपका जो निवेदन था वह मेरी समझ में आया नहीं, आयेगा भी नहीं। क्योंकि मैंने बीसियों दफा देख लिया है। आप कहते हैं, आपमें केवल इतना ही नहीं है, आपमें

बहुत ताकत है। आपको शान्ति दूसरे ढंग से मिल गई है, इसलिए आपको मालूम है। और यह तो लोगों को जरा कठिन लगता है कि मैं भगवत्-चिन्तन का विरोध करता हूँ—कठिन लगता है सुनने में—मैं भगवत्-स्मृति जगाने का प्रयास करता हूँ, आप चिन्तन करने की बात कहते हैं, इतना ही तो फर्क है। मैं कहता हूँ कि भगवत्-स्मृति जाग्रत होजाय, आपका भला होजाय जल्दी ! अल्प आयु है, अल्प सामर्थ्य है, न जाने कब क्या होजाय ! मेरा तो मत है यह। और जिनको दीर्घ काल का भरोसा है, जन्म-जन्मान्तर का भरोसा है, वे वैसा करें।

श्रोता :—महाराज ! यह स्मृति हमेशा बनी रहेगी ?

स्वामीजी :—अरे, स्मृति हमेशा निरन्तर रहती है। उस स्मृति को स्मृति कहते ही नहीं जो मिट जाय। देखो, 'अभ्यास' मिटता है, होने वाली बात मिटती नहीं है। स्मृति का ही अर्थ बोध है। स्मृति का ही अर्थ प्रेम है। स्मृति का ही अर्थ योग है। और आप देखेंगे भी। साधकों ने, बहुतों ने कहा कि 'मुझे स्मृति प्राप्त होगई।' 'मुझे परम विश्राम मिल गया।' यह एक ने नहीं, अनेकों ने कहा है। तो आप तो सीखने वाली बात के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि बनी रहेगी कि नहीं बनी रहेगी ? सो तो नहीं बनी रहेगी। लेकिन 'होनेवाली' बात तो बनी रहेगी। क्योंकि स्मृति होती है। आत्मीय सम्बन्ध से स्मृति होती है। निष्कामता से शान्ति मिलती है। निर्ममता से निर्विकारता आती है।

३०

'अव्यक्त' जो होता है, वह हमेशा 'व्यक्त' की अपेक्षा सूक्ष्म और विभु होता है।

स्थूल जो पदार्थ होता है, वह देखने में कितना ही बड़ा मालूम हो, वह सूक्ष्म-तत्व के किसी एक अंश में रहता है।

अधिकार-लालसा ने ही भोगत्व-भाव को जन्म दिया।

जब तक प्रत्येक प्रवृत्ति में सेवा का रस नहीं आता, तब तक प्रवृत्ति अपने सुख के लिए होती है। जब प्रवृत्ति दूसरों के हित में होने लगती है, तब उसमें सेवा का भाव आता है।

'प्रियतम' किसमें छिपा हुआ है ?—'प्रीति' में।

प्रीति में छिपा हुआ प्रीतम जब प्रगट होता है, तब प्रीति 'सेवा' का रूप धारण करती है और सेवा होकर 'सेव्य' को रस देती है।

(अ) जो लेता है और देता है वह है 'असाधक'।

(ब) जो लेना छोड़ता है और देने को तत्पर है वह है 'साधक'।

(स) जो केवल लेता है वह है 'जड़'।

(य) और जो लेता नहीं है, केवल देता है वह है 'प्रभु'।

(र) जो लेता-देता है उसी को 'जड़-चिद्-ग्रन्थी' कहते हैं।

३०

अ

प्रवचन :

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

मानव-जीवन साधनयुक्त जीवन है। यह बात इस साधन-पक्ष के उद्‌घाटन करते हुये आदरणीय सहाय जी ने बताई। और उसी का अनुवाद करते-करते आज का दिन आ गया।

एक बात प्रत्येक भाई और बहन को समझना है और वह बात यह है कि क्या कोई ऐसा प्राणी है जिसे रस की माँग न हो? रस की मांग हम सभी को है। इस मूल समस्या पर विचार करने के लिये यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि रस का उद्‌गम-स्थान क्या है? और रस का स्वरूप क्या है? रस उस समय तक नहीं प्रतीत होता, जिस समय तक रस की मांग न हो। रस की मांग ही रस का उद्‌गम-स्थान है। आप कहेंगे कि भाई, रस की मांग तो स्वाभाविक है। किन्तु विचार तो यह करना है कि आप रस-दाता हैं या रस-भोगी? रस के भोग में भी रस है और रस के देने में भी रस है। तो जो रस का भोगी होता है, वह रस के दाता के सदैव आधीन रहता है। और जो रस का दाता होता है, वह सदैव स्वाधीन रहता है।

आप कहेंगे कि जीवन में तो ऐसा देखने में आता है कि दोनों ही परस्पर में भोगी होते हैं और दोनों ही परस्पर में दाता होते हैं। जैसे, दो जब एक दूसरे को रस देने लगते हैं, तो दोनों ही कभी-कभी यह मान लेते हैं कि मानों हम रस के भोगी भी हैं और रस के दाता भी हैं। परन्तु वास्तव में जब तक यह द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है कि हम रस के भोगी भी हैं और रस के दाता भी हैं, तब तक जो रस मिलता है उस रस का नाम ही भोग का रस है। भोग का जो रस होता है उसमें जिससे रस प्रतीत होता है उसका विनाश, और जिसको रस प्रतीत होता है जो रस का भोक्ता होता है उसमें, रस भोगने की शक्ति का ह्रास बना ही रहता है।

आप विचार कीजिये—किसी भाई को अथवा बहन को खूब ही तीव्र भूख लगी हो, और एक दूसरा भाई बड़ा ही सुन्दर, अनुकूल, रुचिकर भोजन लेकर आजाय। तो जिस समय भूख और भोजन का सम्पर्क होता है अथवा थाली सामने आती है, उस समय जो रस होता है, वह भोजन के आरम्भ-काल में नहीं रहता। उस समय बड़े ही निर्विकार-रूप से भोजन-रस की मांग है। और जहाँ भोजन आपने आरम्भ कर दिया, तब दो बातों पर दृष्टि गई—एक तो भोग्य-वस्तु पर, और उस भोग को देने वाले व्यक्ति पर। कुछ लोग कहने लगते हैं कि 'देखिये, बड़ा ही सुन्दर भोजन बनाया है और यह बड़ा ही सुन्दर भोजन है!' बनाने वाले पर भी दृष्टि जाती है और उस वस्तु पर भी दृष्टि जाती है। और उस समय दोनों ही में सुन्दरता दिखाई देती है।

किन्तु धीरे-धीरे वह रस घटने लगता है, उसकी क्षति

होने लगती है। और उसके साथ-साथ रस-भोगनें की जो सामर्थ्य थी उसका भी ह्रास होने लगता है। और एक वह स्थिति आजाती है कि वही भोजन है, वही भोजन देने वाला है, लेकिन अब उसमें रस का भास नहीं। यदि उस समय कोई विशेष आग्रह करे, तो जो यह मालूम होता था आरम्भ-काल में कि यह बड़ा ही हमारा अपना प्यारा है, इसने हमको बड़ा ही सुन्दर भोजन दिया है। यदि विशेष आग्रह करे महाराज ! तो शत्रु जैसा लगने लगता है। इतना ही नहीं, वह कहे कि नहीं ! नहीं !! तुमको भोजन करना ही पड़ेगा और यदि आप भोजन कर लेंगे, तो हम समस्त-विश्व की सम्पत्ति आपको देना चाहते हैं। तब भी आप कहेंगे कि 'क्या करें ! अब शक्ति का ह्रास होगया, अब हम किसी भी प्रकार भोजन कर नहीं सकते। उन्होंने कहा कि देखो, अगर तुम विश्व की सम्पत्ति लेकर भी भोजन नहीं करते हो, तो तुमको अभी गोली से मार दिया जायेगा।—'कि भाई देखो, हमारे बस की बात नहीं है। चाहे आप गोली से मारो और चाहे समस्त विश्व की सम्पत्ति दो, अब हम एक ग्रास भी भोजन नहीं कर सकते।' क्यों ? 'भोगने की शक्ति का ह्रास होगया।'

तात्पर्य क्या निकला ? कि रस का भोगी और भोग्य-वस्तु इन दोनों के सम्पर्क से जो रस मिलता है, वह रस नित्य नहीं है। उसी को लोगों ने अपनी शास्त्रीय भाषा में कह दिया कि 'अनित्य है अनित्य'। यानी भोगों का रस जो है वह अनित्य है।

उस पर भी कहीं वस्तु का विनाश होजाय और व्यक्ति का वियोग होजाय, तब तो सभी को इस बात का स्पष्ट ज्ञान

होजाता है कि भाई ! भोग के रस में शोक है, रोग है, अभाव है।

देखिये, आज जो आप लोग यह प्रश्न करते रहते हैं कि हमारा विषयों से मन हटता नहीं, तो मैं आपसे पूछता हूं कि क्या सचमुच विषयों में रस नहीं है ? यदि विषयों में रस का भास न होता, तो मन कभी लगता ही नहीं। लेकिन यदि उस रस में स्थिरता होती, तब मन हटाने का प्रश्न ही नहीं आता। तो यह जो मन के हटाने का प्रश्न आता है जीवन में कि विषयों से मन हटना चाहिये अथवा मन में-से विषय निकल जाना चाहिये—दोनों में थोड़ा-सा भेद तो है। किसी के मन में विषय रहते हैं और किसी का मन विषय में रहता है। तो मन में विषय रहते हों, तो निकल जायँ; और विषयों में मन लगा हो, तो हट जाय।

तो भाई ! यह जो हटाने की बात आती है, वह क्यों आती है ? रस की क्षति, रस का विनाश और रस-भोगने की शक्ति का ह्रास—यह किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इसलिए यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि मन में विषय-रस है, तो निकल जाय। और यदि विषय में मन लगा है, तो हट जाय। वास्तव में क्या है ? यह तो बड़ी विचारणीय बात है। कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि जो लोग इन्द्रिय-ज्ञान को अथवा इन्द्रिय के व्यापार को मन के किसी एक अंश में मानते हैं, वे दर्शनकार तो यह कहते हैं कि मन में विषय-रस भर गया, निकाल दो। और जो लोग स्थूल-दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापार को मन के किसी एक अंश में नहीं मानते, अपितु मन को इन्द्रिय के अधीन मानते हैं, वे कहते हैं कि भाई ! विषय में मन लग गया, हटालो। यह एक दार्शनिक-दृष्टिकोण से भेद है।

आप कहेंगे कि आपका अपना मत क्या है ? जरा विचार करो। और विचार इस बात को लेकर करो कि भाई, अपना तो कोई स्वतन्त्र ऐसा मत नहीं है जो आपका मत न हो। और भगवान् न करे कि कोई किसी के मत का अनुसरण करे। यह बड़ी बुरी बात है। अपने मत के अनुसरण में ही अपना कल्याण है।

तो अगर हम आपसे ही पूछें कि भाई, जिस नेत्र से तुम इतनी बड़ी सृष्टि की आकृति देखते हो। सारी सृष्टि तो नेत्र से नहीं देखते न ! उसकी केवल आकृति देखते हो। और नेत्र आपको बहुत छोटा-सा मालूम होता है और सृष्टि बहुत बड़ी-सी मालूम होती है। लेकिन किसी विज्ञान-वेत्ता से पूछो कि जो चीज देखने में बड़ी मालूम होती हो और जिससे देखी जाती है वह छोटी मालूम होती हो, तो वह छोटी चीज सूक्ष्म है या स्थूल है ? तो वह तुरन्त कह देगा कि वह सूक्ष्म है। और जो देखने में आती है वह ? कि वह स्थूल है। तो नियम यह है कि सूक्ष्म वस्तु मालूम होता है कि बहुत छोटी है, लेकिन स्थूल की अपेक्षा विभु होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों के किसी एक अंश में हैं। जब समस्त इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों के किसी एक अंश में हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि इन्द्रियाँ विषयों की अपेक्षा विभु हैं। और विषय इन्द्रियों की अपेक्षा सीमित हैं।

यहाँ एक और ध्यान देने की बात है। और वह यह है कि जो लोग 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' की उत्पत्ति स्वीकार कर लेते हैं, उनकी समझ में तो यह बात एक दम आयेगी। क्यों समझ में आजायेगी ? कि 'अव्यक्त' जो होता है, वह हमेशा

'व्यक्त' की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, विभु होता है। एक बात। दूसरी बात, और जरा ध्यान दीजिये कि जो लोग 'अव्यक्त' का कार्य 'व्यक्त' मानते हैं, वे भी इस बात को मानलेंगे। क्यों मानलेंगे? इसलिये मानलेंगे कि 'कार्य' जो होता है, उसमें "कारण" की अपेक्षा गुणों की तो विशेषता होती है, परन्तु सत्ता की पराधीनता होती है। कोई भी 'कार्य' ऐसा नहीं होता, जिसमें 'कारण' की सत्ता न हो। लेकिन कोई भी 'कार्य' ऐसा भी नहीं होता, जो 'कारण' की अपेक्षा कुछ विशेष गुण न रखता हो।

इससे क्या सिद्ध हुआ? इससे यह सिद्ध हुआ कि स्थूल जगत् में जो स्थूलता दिखाई देती है और यह मालूम होती है कि जरा-सी आँख के प्रकाश ने इतनी बड़ी सृष्टि को देख लिया। सृष्टि बहुत बड़ी है, आँख बहुत छोटी है। यह कार्य के गुण की विशेषता है, सत्ता की नहीं। सत्ता तो रूप में प्रकाश की है। साधारण आदमी सोचते हैं कि प्रकाश इस आँख की गोलक में है। और जैसे-जैसे विज्ञान की ओर अपना प्रवेश होता जाता है वैसे-ही-वैसे कहने लगते हैं कि भाई, प्रकाश तो उस सूर्य का है। जरा ध्यान दीजिये, प्रकाश तो उस सूर्य की वस्तु है कि जिस सूर्य के किसी एक अंश में समस्त सृष्टि निवास करती है या जिसके आकर्षण से रुकी है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, स्थूल जो पदार्थ होता है, वह देखने में कितना ही बड़ा मालूम हो, किन्तु सूक्ष्म-तत्व के किसी एक अंश में रहता है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि इन्द्रियों के किसी एक अंश में है। और वे समस्त इन्द्रियाँ मन के किसी एक अंश में हैं। और वह मन बुद्धि के किसी

एक अंश में है। और वह बुद्धि, बुद्धि के ज्ञाता के किसी एक अंश में है।

अब आप जरा सोचिये तो सही कि बुद्धि का ज्ञाता कितना महान् होगा ! कितना अनन्त होगा ! और कोई सहज भाव से पूछे —क्या आप अपनी बुद्धि को जानते हैं ? तो हर भाई कहेगा, हर बहन कहेगी कि—"हाँ, अपनी बुद्धि को जानते हैं।" और फिर कोई कहदे—"तुम सारी सृष्टि से बहुत बड़े हो।" बोले—पागल हुये हो क्या ? अरे, हम एक साधारण व्यक्ति और आप हमसे कहते है कि हम सारी सृष्टि से बड़े हैं ?

भाई ! जरा सोचो तो सही, यह जो तुम कहते हो कि हम साधारण—यह क्या मानकर कहते हो ? तब आपको मानना पड़ेगा कि साड़े तीन हाथ का शरीर, जो समस्त विश्व का एक 'नहीं' के समान अंश है महाराज ! आप विचार करें। अगर जैसे लोग गणित से हिसाब लगाते हैं कि भाई, अमुक वस्तु अमुक वस्तु का कौनसा भाग है ? इस दृष्टि से अगर आप हिसाब लगाने बैठें तो सृष्टि का एक बहुत-बहुत छोटा भाग हमारा-आपका शरीर मिलेगा, बहुत छोटा भाग। यानी अगर यह कह दिया जाय कि आज के गणित में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि इसका ठीक निर्णय कर सके कि एक व्यक्ति का शरीर समस्त सृष्टि का कौनसा भाग है ? शायद न कह सके ! न कह सके !!

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, एक ओर तो हमें यह मालूम होता है कि हमारा जो व्यक्तित्व है, वह सृष्टि के किसी एक अश मात्र में है। और दूसरी ओर हमें यह

मालूम होता है कि समस्त सृष्टि हमारे किसी एक अंश-मात्र में है।

आप जरा ध्यान दीजिये और गम्भीरता से विचार कीजिये कि यह जो दार्शनिक दृष्टिकोण है, इस दार्शनिक दृष्टिकोण से हम और आप रस के भोगी हैं या रस के दाता ? अब मूल प्रश्न पर आइये। आप और हम अपने को रस का भोगी मानते हैं या रस का दाता ? इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ की जो अपनी नीति है, उस नीति के अनुसार तो ऐसा मालूम होता है कि जो व्यक्ति अधिकार-लालसा में फँसा है, वह रस का भोगी है। और जो रस का भोगी है, वह पराधीन है। और जो पराधीन है, वह जड़ता में आबद्ध है। जो जड़ता में आबद्ध है, उसके जीवन में अनेक प्रकार के अभाव हैं।

तात्पर्य क्या निकला ? तात्पर्य यह निकला कि अब हमें और आपको देखना पड़ेगा, किसको ? किसी और को नहीं, अपने व्यक्तिगत जीवन को। और किस दृष्टि से देखना पड़ेगा ? इस दृष्टि से देखना पड़ेगा कि हमारे और आपके जीवन में अधिकार-लालसा है या नहीं ? चाहे वह अधिकार पुत्र का पिता से हो या माता से, चाहे माता और पिता का पुत्र से हो। चाहे पत्नी का पति से हो, चाहे भाई का भाई से हो। चाहे व्यक्ति होकर समाज से हो, शरीर होकर विश्व से हो, और जीव होकर ईश्वर से हो। इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि हमारे जीवन में अधिकार-लालसा है, तो हम भोक्ता हैं, भोक्ता !

और आप जानते हैं कि जो भोगी होता है, वह रोगी अवश्य होता है। यह नियम है। कोई कहें कि हम भोगी हैं,

और रोगी नहीं हैं। बिल्कुल झूठा। कोई कहे कि हम भोक्ता हैं और भोगने की शक्ति का ह्रास नहीं हुआ। बिल्कुल झूठा। जो भोक्ता होगा, उसकी भोगने की शक्ति का ह्रास होगा।

तो भाई मेरे! विचार अब यह करना है कि क्या हम और आप भोक्ता होकर कर्त्तृत्व के अभिमान से, फल की आसक्ति से रहित हो सकते हैं? नहीं होसकते। और अगर कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित नहीं होसकते, तो क्या कर्म और कर्म का फल, और कर्म के संस्कारों से मुक्त होसकते हैं? नहीं होसकते। इस दृष्टि से आप देखिये कि अधिकार-लालसा ने ही भोगत्व-भाव को जन्म दिया। और यह अधिकार उत्पन्न कहाँ से होता है? महाराज! यह अधिकार उत्पन्न कहाँ से होता है? यह अधिकार उत्पन्न तब होता है, जब प्राणी इस बात को स्वीकार कर लेता है कि हमारे सुख का कारण कोई भी वस्तु, कोई भी व्यक्ति होसकता है।

यह बात जब तक मानता रहेगा, तब तक वह अधिकार से मुक्त नहीं होसकता। आप कहेंगे कि यह मानकर भी लोगों ने अपने-अपने व्यक्तिगत अधिकारों का त्याग किया। लेकिन भीतर से अगर आप देखें, तो अधिकार का त्याग कभी-कभी अधिकार पाने के लिए भी होता है। जैसे, सन् १९२१ में हमारे बहुत से साथियों ने सर्विस छोड़ी थीं, पद छोड़े थे, टाइटिल छोड़े थे, वकालतें छोड़ी थीं और कुछ नौजवानों ने अपनी नौजवानी छोड़ी थी। और किसी-किसी ने तो अपने प्राणों का भी त्याग कर दिया महाराज! लेकिन किसलिये? अधिकार पाने के लिये।

तो अधिकार पाने के लिए जो अधिकार का त्याग होता है,

वह त्याग अन्त में भोग में ही बदल जाता है। और जो त्याग भोग में बदल जाता है, वह सेवा 'स्वार्थ' में परिणत होजाती है। और जो सेवा स्वार्थ में परिणत होजाती है, उस सेवा के आधार पर भेदों की उत्पत्ति होजाती है। अनेक भेद उत्पन्न होजाते हैं। और वे जो अनेक भेद है, वे परस्पर में संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं।

एक वह समय था कि विभिन्न विचार के लोग अपने अपने अधिकार पाने के लिये एक थे एक। और अधिकार पाते ही कितनी पार्टी बनीं आपके देश में! जरा ध्यान दीजिये। क्या है यह? यह मेरा कोई विषय नहीं है, उदाहरण है। और इस बात के लिये उदाहरण है कि अधिकार पाने के लिये जो अधिकार का त्याग है, वह दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है। क्यों? दर्शन किसे कहते हैं भाई? दर्शन कहते हैं उस सत्य को कि जो बदल न सके। और जो सत्य बदलता है, उसका नाम दर्शन नहीं है। तो अधिकार पाने के लिए जो अधिकार का त्याग है, वह वास्तव में अधिकार का त्याग नहीं है।

इसी बात को अगर आप जरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखिये, जरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सोचिए, तो जिन प्राणियों ने सद्गति के लिये साधन किया—जरा ध्यान दीजिये—बड़े-बड़े तप किये, बड़े-बड़े त्याग किये, बड़े-बड़े अध्ययन किये। बोले, किसलिये करते हो? बोले, 'जन्म-मरण छूट जाय।' यह अधिकार होगया न! जन्म-मरण छुटाने का एक अधिकार? तो जिन्होंने अधिकार पाने के लिए प्रभु की उपासना की, सत्य का विचार किया, वे ज्ञानी होकर पुजने लगे। जरा ध्यान दीजिये, वे ज्ञानी होकर पुजने लगे। कोई योगी होकर पुजने लगे।

तात्पर्य क्या निकला ? वहाँ भी भेद का नाश नहीं हुआ। क्यों नहीं नाश हुआ ? कि अधिकार पाने के लिए अधिकार का त्याग किया था। बोले, वासना का त्याग क्यों करने गये ? बोले, 'चिर-शान्ति के लिये।' तो चिर-शान्ति का भोग करोगे ? अगर चिर-शान्ति का भोग करोगे, तो अधिकार पाना होगया। और जब तक अधिकार पाने का प्रलोभन है, तब तक भाई मेरे ! योगी भी भोगी, ज्ञानी भी भोगी, प्रेमी भी भोगी और भोगी भी भोगी। यही नियम है।

इसलिए भाई ! जब हम और आप रस के सम्बन्ध में विचार करने लगते हैं, तो हमको यही मालूम होता है कि जो भोगी है उसको वह रस नहीं मिल सकता, कि जिस रस की उसको मांग है।

तो अब हमारे और आपके जीवन में-से भोगी होने की भावना का नाश कैसे हो ? उसका सीधा-सादा उपाय है कि अगर आप अपने को शरीर मानते हैं—कल्पना करो थोड़ी देर के लिए, जानता तो कोई नहीं। जानता कोई नहीं कि 'मैं शरीर हूँ'। सब जानते हैं कि शरीर मेरा है अथवा मुझसे अलग है। यह हर एक भाई जानता है, हर एक बहन जानती है। लेकिन अपने को शरीर मानकर यदि आप विश्व में अपना कोई अधिकार रखते हैं, तो आपको वह रस नहीं मिलेगा जो मिलना चाहिए। और यदि अपने को शरीर मान कर विश्व के अधिकार में अपने शरीर की आहुति दे देते हैं— जरा ध्यान दीजिये—अपने को शरीर मानकर विश्व के अधिकार में अपनी आहुति दे देते हैं, तब आप भोक्ता नहीं रहते। ऐसे ही अपने को व्यक्ति मानकर समाज के अधिकार

में अपनी आहुति दे देते हैं, तब आप भोगी नहीं रहते। ऐसे ही अपने को जीव मानकर ईश्वर के अधिकार में अपनी आहुति दे देते हैं, तब आप भोगी नहीं रहते। यह है रस की दार्शनिक भित्ति।

क्या? कि भाई आप अपने को चाहे कुछ मानें और चाहे कुछ जानें! जानके अथवा मानके, देखना तो यह है कि आपके द्वारा आपके प्रिय की—जैसे, शरीर होकर प्रत्येक भाई का प्रिय विश्व होसकता है—जरा ध्यान दीजिये—शरीर होकर प्रत्येक भाई का प्रिय विश्व होसकता है, तो शरीर बन कर अपने विश्व रूपी प्रेमास्पद के अधिकार की रक्षा में अपने आपको गला होसकते हो? व्यक्ति होकर समाज के रूप में जो आपका प्रेमास्पद है, उसके अधिकार की रक्षा में अपने व्यक्तित्व को गला सकते हो? और भाई! जीव होकर प्रभु के अधिकार में अपने जीवत्व को गला सकते हो? तो निस्संदेह आप रस के दाता होजाते हो।

और रस का दाता जो होता है, वह रस का भोक्ता नहीं होता। और जो रस का भोक्ता नहीं होता, उसमें न तो भोगने की शक्ति का ह्रास होता है और न उसकी भोग्य-वस्तु का कभी विनाश होता है। क्योंकि रस जो है वही एक ऐसी भोग्य वस्तु है कि जिसका कभी नाश नहीं होता। वस्तु का जो भोक्ता है वह भोक्ता भी नाश होता है और वह भोग्य वस्तु भी नाश होती है।

लेकिन, सेवा के रूप में, प्रीति के रूप में, त्याग के रूप में, क्षमाशीलता के रूप में, उदारता के रूप में, जो रस का दाता

है—जरा ध्यान दीजिये—क्षमाशीलता से भी दूसरों को रस मिलता है। उदारता से भी दूसरों को रस मिलता है। अक्रोध से भी दूसरों को रस मिलता है। प्रियता से भी दूसरों को रस मिलता है। सेवा से भी दूसरों को रस मिलता है। इस प्रकार का जो रस का दाता है, उस रस-दाता का कभी नाश नहीं होता। और जिस रस दाता का कभी नाश नहीं होता, उस रस के भोगी का भी कभी नाश नहीं होता। क्यों नाश नहीं होता? जरा सोचिये, 'सेवा और सेव्य', 'प्रीति और प्रीतम', इन दोनों में जातीय भिन्नता नहीं रहती।

३०

ब

सेवा किसी और जाति की हो और सेव्य किसी और जाति का हो, प्रीति किसी और जाति की हो और प्रीतम किसी और जाति का हो—यह कभी हो ही नहीं सकता। जब यह नहीं होसकता, तब यह जो स्थूल आपका जो जीवन है, वह जीवन क्या होजाता है? वह जीवन केवल एक साधन का क्षेत्र रह जाता है। कैसे?

विचार कीजिये, जब आप अपने को सेवक मान लेते हैं, तो आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सेवा का रंग आजाता है, सेवा का प्रभाव आजाता है। जब सेवा का प्रभाव आजाता है, तो प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित में होने लगती है, अपने सुख में नहीं। और जब तक हमारी प्रवृत्तियों में सेवा का रस नहीं आता, तब तक प्रत्येक प्रवृत्ति अपने सुख में होती है। और जहाँ अपने सुख में प्रवृत्ति हुई, वहाँ रस-दाता का पद नाश हुआ और रस के भोक्ता होगये। और जो भोक्ता होगा उसकी शक्ति का तो ह्रास होगा ही, उसमें तो पराधीनता आयेगी ही, उसमें तो जड़ता रहेगी ही।

इसलिये भाई! आपका जो व्यक्तित्व है, आपका जो अस्तित्व है, वह क्या है? सेवा है, प्रीति है। सेवा किस काल में? प्रवृत्ति काल में। प्रीति किस काल में? निवृत्ति काल में।

अब आप कहेंगे कि भाई! सेव्य और प्रीतम—क्या इनमें भी कोई भेद है? भाई, इनमें कोई भेद नहीं है। एक बड़ा भारी भेद यह है कि जब हमारा प्रीतम सेव्य होता है, तब वह व्यक्त होजाता है, प्रकट होजाता है, उसका प्रादुर्भाव होजाता है। वही प्रीतम जब सेव्य होगा तब व्यक्त रूप में होगा, प्रगटरूप में होगा। जिसको किसी ने जगत् के नाम से कहा, किसी ने माया-मात्र के नाम से कहा, किसी ने प्रीतीति-मात्र कहा और किसी ने लीला शब्द से उसका वर्णन किया।

तो भाई, हमारा सेव्य क्या है? वही प्रीतम जो कि छिपा हुआ है। किसमें? जरा ध्यान दीजिये, प्रीतम किसमें छिपा हुआ है? प्रीति में। बाहर नहीं, प्रीतम प्रीति में छिपा है। तो प्रीति में छिपा हुआ प्रीतम जब प्रगट होता है, तब प्रीति सेवा का रूप धारण करती है, और सेवा होकर सेव्य को रस देती है। और जब प्रीतम अपने प्रगटरूप को अपने में विलीन करता है, तब सेवा प्रीति होती है। और प्रीति होकर प्रीतम को रस देती है।

अब भाई, सच बात तो यह है कि जब प्रीति होकर प्रीतम को रस देती है सेवा, तब प्रीतम जो है उस प्रीति का भोगी होता है। जैसे सेव्य सेवा का भोगी है, ऐसे ही प्रीतम प्रीति का भोगी है। जब प्रीतम प्रीति का भोगी होता है, तब यह पता चलाना बड़ा कठिन होजाता है कि कौन प्रीति है और कौन प्रीतम! तो जहाँ प्रीति और प्रीतम के भेद का पता नहीं चलता, वहीं लोग चुप होते हैं। और चुप होकर वह रस कि जिसमें कभी क्षति नहीं, और वह रस का भोक्ता कि जिसमें शक्ति का कभी ह्रास नहीं। तो दशा क्या होती है?

कल्पना करो– किसी को ऐसी प्यास लगी हो, जो कभी बुझे नहीं, और ऐसा जल मिल जाय जो कभी घटे नहीं और ऐसा पेट होजाय जो कभी भरे नहीं। तब आप क्या कहेंगे? तब आपको कहना पड़ेगा कि प्रत्येक घूंट पर एक नया रस है। क्या नया रस है? कि प्यास बुझती नहीं, पेट भरता नहीं, जल घटता नहीं। यही वास्तव में अगाध रस है, अनन्त रस है, नित्य रस है। और वह रस मानव-मात्र को प्राप्त होसकता है। कब होसकता है?

इसी बात को यदि हम लोग अपनी बोल-चाल की सीधी-सादी भाषा में कहें, तो कहेंगे भैया, अपने अधिकार का त्याग करो। बोले, इससे क्या होगा? कि इससे होगा यह कि साधक की सूची में आपका नाम लिख जायेगा। बोले, हम तो यह नहीं कर सकते। अगर आप यह नहीं कर सकते, तो सरकार! साधक तो नहीं होसकते, चाहे आप ब्रह्म भले ही होजायें, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं कि आप ब्रह्म नहीं हैं। सचमुच आप ब्रह्म हैं, पर साधक नहीं होसकते। और मानव सेवा संघ का जो दृष्टिकोण है, वह साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का है।

आप कहेंगे—ऐसा क्यों? भाई देखो, ब्रह्म में तो साधन का प्रश्न हो नहीं सकता, जगत् में साधन का प्रश्न हो नहीं सकता। जरा सोचिये, जगत् में कोई साधन का प्रश्न होता है? ब्रह्म में कोई साधन का प्रश्न होता है? साधन का प्रश्न साधक में होता है। और साधक होता है मानव। जरा ध्यान दीजिए, साधक होता है मानव, कोई और साधक बनने नहीं आता।

तो हम और आप मानव सेवा संघ के दृष्टिकोण से जब देखते हैं तो हम सबको साधक होना है। और साधक होने के लिए, सबसे पहली बात हमें और आपको स्वीकार ही करनी पड़ेगी। और वह यह बात है कि भाई, हमें किसी से कुछ लेना नहीं है। क्यों? लेने के लिए यदि हमारा जीवन होता, तो मानव जीवन नहीं होता महाराज! तो क्या होता?

पशु जीवन होता। क्योंकि पशु जीवन में लेने की बात है। आप कहते हैं कि पशुओं से तो बहुत लाभ होता है, वृक्षों से तो बहुत लाभ होता है। तो वृक्षों से जो बहुत लाभ होता है, वह तो लाभ लेने वाला ले लेता है, वह बेचारा देता थोड़े ही है। वह थोड़े ही कहता है कि हम इसलिये उगे हैं कि हम तुमको छाया देंगे, कि हम तुमको फल देंगे, कि सूखने पर लकड़ी देंगे। ऐसा बेचारा अगर वृक्ष कहता है, तब तो यह मानना चाहिये कि वह सृष्टि नहीं है, वह वृक्ष नहीं है, वह तो प्रभु हैं। क्योंकि जो नहीं लेता और देता है, वह प्रभु का स्वभाव। जरा ध्यान दीजिए, जो देता है और लेता नहीं वह प्रभु का स्वभाव। और जो देता है और लेता है ये दोनों बातें हैं—यह असाधक का स्वभाव। और जो देने के लिए तत्पर है और लेना छोड़ता है—यह साधक का स्वभाव। और जो केवल लेता है—यह जड़ता।

जड़ता और कुछ नहीं है। चाहे वह जड़ता आप वृक्ष में आरोप करें, चाहे आप पशु-पक्षी में आरोप करें, और चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन में आरोप करें। जो केवल लेता ही लेता है, उसी का नाम जड़ है। जड़ और किसी का नाम नहीं है। चाहे कोई मनुष्य की आकृति में हो और कहे कि हमारा

जीवन तो लेने ही के लिए हुआ है। तो भाई ! जड़ की इससे ऊँची और कोई परिभाषा ही नहीं है। जड़ वह, जो केवल लेता ही लेता है। और जो लेता-देता है, उसी को जड़-चिद्-ग्रन्थी कहते हैं। जरा ध्यान दीजिए, जो कभी लेने की सोचता है कभी देने की, यही जड़-चिद्-ग्रन्थि है। और जो केवल देता है, उस श्रेणी में दो ही का नाम आता है—या तो प्रेमी का या प्रेमास्पद का और किसी का नहीं।

इसलिए भाई ! अब विचार यह करना है कि क्या आप और हम साधक नहीं हैं ? यदि हम और आप साधक हैं, तो हमारे और आपके जीवन में जो लेने और देने दोनों की बात है, कभी लेने की सोचते हैं, कभी देने की सोचते हैं, उनमें-से एक बात निकाल देनी पड़ेगी। कौनसी ? लेने की बात, लेने की बात निकाल देनी पड़ेगी। तो जब हम अपने जीवन में-से लेने की बात निकाल देते हैं, सच पूछिये, उसी समय जड़ता से मुक्त होते हैं।

जरा ध्यान दीजिए, जिसे कुछ नहीं चाहिए, क्या उसका शरीर से सम्बन्ध रह सकता है ? विचार तो करो। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं रह सकता। क्योंकि शरीर से तद्रूपता कामनापूर्ति के लिए अपेक्षित है, कामना निवृत्ति के लिए नहीं। लोगों ने तो यहाँ तक कह दिया आवेश में आकर, भावावेश में आकर—अरे भाई, शरीर जो है, यह साधन का क्षेत्र है। ऐसा प्रायः कहते हैं न ? तो वह शरीर जो साधन का क्षेत्र है, वह इसी अंश में कि आप इस मानव-जीवन में लेना बन्द कर सकते हैं। तो भाई, जब हम कुछ नहीं लेना चाहते हैं, तब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता।

और जब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, तब योग होजाता है। देखिए, योग शरीर के नाश करने से नहीं होता। जरा ध्यान दीजिए। और योग शरीर को बनाए रखने से भी नहीं होता। आप कितना पुष्ट शरीर बना लीजिये, उससे कोई योग होजाय, यह कोई जरूरी नहीं है। और आप शरीर का नाश कर दीजिए, उससे कोई योग होजाय, यह सम्भव नहीं है।

योग कब होता है? कि जब आपका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। और शरीर से सम्बन्ध तोड़ने के दो उपाय हैं, बड़े सुगम दो उपाय। एक उपाय तो यह है कि भाई, हमें किसी से कुछ लेना नहीं है। अपने अधिकार का जो त्याग है, यह भी शरीर से सम्बन्ध तोड़ने का एक उपाय है। और दूसरा—निज-विवेक का आदर। आप कहेंगे, कैसे?

भाई, पता तो लगाओ कि हम क्या हैं? यह जब पता लगाओगे, तो अगर आपने यह मान लिया कि हम जीव हैं, तो यह आपका ज्ञान नहीं है। यह आपका विश्वास होसकता है। अगर आपने यह मान लिया कि हम ब्रह्म हैं, तो यह भी आपका ज्ञान नहीं होसकता, विश्वास होसकता है। इसका अर्थ कोई भाई-बहन यह न समझ बैठें कि मैं किसी के विश्वास को झूठ मानता हूँ, मैं विश्वास को झूठ नहीं मानता। किन्तु विश्वास को विश्वास मानता हूँ, ज्ञान नहीं मानता। बस, इतना ही अन्तर है। मैं यह नहीं मानता कि जो अपने को जीव मानता है, उसका विश्वास झूठ है। या जो अपने को ब्रह्म मानता है, उसका विश्वास झूठ है—ऐसा मैं नहीं मानता, लेकिन उसको मैं ज्ञान नहीं मानता, उसको विश्वास मानता हूँ।

तो ज्ञान आपको क्या है ? आपको केवल इतना ज्ञान है कि "यह" का नाम "मैं" नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, "यह" का नाम "मैं" नहीं है। "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है। तो भाई, "स्वीकृति" क्या है ? कि "स्वीकृति" जो साधनरूप है, वह तो कर्त्तव्य की प्रतीक है। और जो असाधनरूप स्वीकृति है, वह अकर्त्तव्य की प्रतीक है।

स्वीकृति के दो भाग होते हैं न ? साधनरूप स्वीकृति कर्त्तव्य की प्रतीक है। और "कर्त्तव्य" माने क्या है ? कर्त्तव्य क्या है ? दूसरे का अधिकार। कर्त्तव्य का अर्थ ही है—दूसरे का अधिकार। और "अकर्त्तव्य" क्या है ? अधिकार-लालसा। अधिकार-लालसा अकर्त्तव्य का वह बीज है, जिसमें-से समस्त अकर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं। लेकिन आज अधिकार मांगने को विकास का साधन बताया जाता है। अगर अधिकार मांगना विकास का साधन है, तो ह्रास क्या है भैया ? यदि अधिकार मांगने ही का नाम चेतना है, तो जड़ता क्या है ? यदि अधिकार मांगने ही का नाम पूर्णता है, तो अपूर्णता क्या है ? जरा ध्यान दीजिये।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई ! ज्ञान आपको इसी बात का होता है कि "यह" का नाम "मैं" नहीं है। और दूसरा आपका ज्ञान यह है कि "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है। न "स्वीकृति" का नाम "मैं" है, न "यह" का नाम "मैं" है। तो यह तो हुआ आपका ज्ञान। और इस ज्ञान का प्रभाव क्या होगा ? इस ज्ञान का प्रभाव होगा—अधिकार का त्याग।

यह जो अधिकार-त्याग की बात आपसे मैं निवेदन करता हूँ, यह बिना दार्शनिक-भित्ति के नहीं करता हूँ। यह दार्शनिक-

भित्ति है इस बात की कि जब "यह" का नाम "मैं" नहीं है, तो बताओ, आपका क्या अधिकार है ? किसी बहन से पूछो, किसी भाई से पूछो कि शरीर से अलग जानकर क्या आपको साड़ी चाहिए ? आपको जेवर चाहिए ? आपको पुत्र चाहिए ? आपको पति चाहिए ? आपको बन्धु चाहिए ? अगर ईमानदार बहन है, तो नहीं चाहिए। किसी पुरुष से पूछो कि भाई, शरीर से अलग जानकर क्या आपको पत्नी चाहिए ? भगिनी चाहिए ? पुत्री चाहिए ? अगर ईमानदार पुरुष है, तो कहेगा— नहीं चाहिए।

तात्पर्य क्या ? जिस समय आप अपने विवेक का आदर करते हैं और इतने ही अंश में जितने अंश में आप जानते हैं। "मैं जीव हूँ"—यह आप जानते नहीं, मानते हैं। "मैं ब्रह्म हूँ"—यह आप जानते नहीं, मानते हैं। "मैं शिव हूँ"—यह आप जानते नहीं, मानते हैं। तो भाई ! मानने की बात तो पीछे कभी करेंगे, लेकिन जानने के आधार पर कोई भाई, कोई बहन यह कह ही नहीं सकते कि "मैं क्या हूँ" ? बस, यही कह सकते हैं कि "यह" नहीं हूँ। निषेधात्मक ज्ञान है आपको अपने सम्बन्ध में, और प्रतीतात्मक ज्ञान है आपको जगत के सम्बन्ध में। जरा ध्यान दीजिये। जगत् के सम्बन्ध में आपका प्रतीतात्मक ज्ञान है, यानी प्रतीति है जगत् की, ज्ञान जगत् का भी नहीं है। और अपने सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञान है कि "यह" का नाम "मैं" नहीं है। "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है।

तो निषेधात्मक आप अपने सम्बन्ध में जानते हैं, और प्रतीतात्मक आप जगत् के सम्बन्ध में जानते हैं। तभी तो लोग

कह देते हैं विचारशील कि हम कुछ नहीं जानते हैं—यही जानते हैं। यह जो बात कहते हैं वह असल पूछो तो उसका मूल यहाँ है कि जगत् की प्रतीति है, प्राप्ति नहीं। और जिसकी प्राप्ति ही नहीं है, उसका ज्ञान कैसा ? तो है क्या ?

प्रतीति के आधार पर प्रवृत्ति है। अब वह जो प्रवृत्ति है, उसके हैं दो रूप—अपने सुख के लिए या दूसरों के हित के लिये। अगर अपने सुख के लिए प्रवृत्ति है, तो जड़ता। और दूसरों के हित के लिए प्रवृत्ति है, तो चिन्मयता। तो कहने का तात्पर्य यह था कि प्रवृत्ति काल में वही "मैं" जिसके सम्बन्ध में आपने निषेधात्मक निर्णय किया था, और यह कहा था कि भाई "यह" का नाम "मैं" नहीं है, "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है। वही "मैं" एक भाव शरीर में !

यहाँ जरा थोड़ी गम्भीर बात आयेगी। भाव शरीर किसे कहते हैं ? जिसमें आकृति पीछे हो और भाव पहले हो—अरे, यह कौन है ? यह लाला है लाला। अरे, यह कौन है ? बोले, यह तो लाली है लाली। क्या माथे में लिखा है ? क्या इसके माथे पर लिखा है कि लाली है ? क्या इसके माथे पर लिखा है कि लाला है ? एक बार हमारे यहाँ शुद्धबोध माताजी के पास एक बड़े अच्छे पढ़े-लिखे साधक आये, इन्कम टैक्स आफीसर थे। वे शुद्धबोध माताजी से पूछने लगे—माता जी ! क्या आपको यह नहीं मालूम होता कि मैं स्त्री हूँ ? तो माताजी बेचारी पढ़ी-लिखी बिल्कुल नहीं। तो कहने लगीं— भैया मेरे ! क्या तुम्हारे शरीर में आधा शरीर स्त्री का नहीं है ? अब चुप। वे समझते थे कि शायद ये ज्ञान-ध्यान छाटेंगीं। वे बेचारी ज्ञान-ध्यान क्या जानें !

उन्होंने कहा भैया! यह बताओ, तुम्हारे शरीर में आधा शरीर स्त्री का नहीं है? तो कौन पुरुष यह दम भरता है कि मैं पुरुष हूँ? वह क्या आधा नारी नहीं है? और कौन नारी कहती है कि मैं नारी हूँ? क्या वह आधी पुरुष नहीं है? लेकिन क्या? प्रतीति के आधार पर भाव! जो प्रतीति के आधार पर भाव बनता है, उसी को जगत् कहते है। जगत् और कुछ नहीं है।

और भाई, और आगे चलो भीतर। जब भीतर की ओर चलते हैं, तब? बोले, भाव पहले और आकृति पीछे। यहाँ आकृति पहले और भाव पीछे।

तो जहाँ भाव पहले होता है। कौनसा भाव? मैं सेवा हूँ। अरे भाई, पुरुष वर्ग ने कह दिया—मैं सेवक हूँ। सेवक क्या? सेवक माने वह बिन्दु जो बिखरे तो सेवा होजाय। जरा ध्यान दीजिये। सेवक माने वह बिन्दु जो बिखरे तो सेवा होजाय। किसी नारी-शरीर ने कहा—मैं सेविका। अरे, सेविका माने क्या? जो बिखरे, तो सेवा होजाय। जरा ध्यान दीजिये। तो सेवक होकर भी सेवक का अस्तित्व सेवा होकर विभु होता है। और सेविका होकर भी सेविका का अस्तित्व सेवा होकर विभु होता है।

अब भाई, सेवा क्या है? सेवा का विवेकात्मक जो रूप है, वह है अधिकार-त्याग। और सेवा का जो भावात्मक रूप है, वह है—प्रियता। और सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वह है—मिले हुए का सदुपयोग। जरा ध्यान दीजिये। सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वही आज के बुद्धिमान मानव का कर्त्तव्य है। लेकिन है वह सेवा का क्रियात्मक रूप।

आप कहेंगे कि सेवा का जो भावात्मक रूप आपने प्रियता बताया, तो प्रियता क्या है ? जरा ध्यान दीजिये। जिसमें हमारी-आपकी प्रियता होती है, न तो हम-आप उसे बुरा समझते हैं, न हम और आप उसका बुरा चाहते हैं, और न हम और आप उसके साथ बुराई करने की सोचते हैं। तो जब जीवन में बुराई करने की सोचना भी बन्द होजाय और बुरा चाहना भी बन्द होजाय, और बुरा समझना भी बन्द होजाय, तब समझना चाहिये कि सेवा का जो भाबात्मक रूप था, वह सिद्ध हुआ। और सेवा का विवेकात्मक रूप ? बोले, हमको कुछ नहीं चाहिये। हमको कुछ नहीं चाहिये। क्यों भाई ? क्यों कुछ नहीं चाहिये ? यह सेवा का विवेकात्मक रूप है। तो जो सेवा का विवेकात्मक रूप है, उससे असंगता प्राप्त होती है। और सेवा का जो भावात्मक रूप है, उससे उत्तरोत्तर प्रियता की वृद्धि होती है। और सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, उससे संग्रह का नाश होता है, ममता का नाश होता है।

अगर हमारे जीवन में क्रियात्मक रूप से सेवा आजाय तो न ममता रह सकती है, न संग्रह रह सकता है। और जहाँ ममता और संग्रह नहीं है, वहाँ संघर्ष हो ही नहीं सकता। जितने संघर्ष होते हैं सरकार ! वे होते हैं सग्रह में, ममता में। इसलिए आज स्थूल दृष्टि से हमारा दर्शन क्या हो जाता है ? हमारे रस का क्षेत्र क्या होजाता है ? बहुत बड़ी बात कहेंगे, तो यह कहेंगे कि मिले हुए का सदुपयोग करो। यह भी मालूम है किस अंश में ? अपनी जरूरत से ज्यादा हो, तब। आज की सेवा का अर्थ क्या ?

बोले, आप कौन हैं साहब ? हम मजदूर दल के लीडर हैं। बहुत सुन्दर बात। चलते हैं पैदल कि मोटर में ? कि चलते तो हैं मोटर में। बात पत्र से करते हैं कि टेलीफोन से ? कि बात तो करते हैं टेलीफून से। और जाते कब है ? बुलाने पर। और बोले, स्वागत कराने पर। देते क्या हैं ? कि खाली व्याख्यान। लेते क्या है ? मजदूरों की कमाई। ध्यान दीजिये, यह सेवा का क्रियात्मक रूप नहीं है।

और आप कौन हैं साहब ? हम हैं साहब ! मिल औनर। बोले, करते क्या हैं ? कि आपको नहीं मालूम है ? हमनें अपनी फैक्ट्री में एक स्कूल खोल रखा है। अच्छी बात है। भाई, ईमानदारी से बताओ कि जितनी सम्पत्ति आपने अपने एक लड़के के लिए रखी है, उसका कितना छोटा भाग स्कूल में लगाया है ? सो तो महाराज ! ईमानदारी की बात यह है कि बहुत थोड़ा लगाया है। और किया क्या है ?

लुगाई के नाम अलग फर्म है और लड़के के लिये अलग है और साले के लिए अलग है और बहनोई के नाम अलग है और दामाद के नाम अलग है। और मालिक ? कि मालिक तो महाराज ! हमीं हैं। यह क्या है ? जरा सोचो। यह हमारी वह ईमानदारी कि जिसको लोग बेईमानी नहीं कहते। जरा सोचिये। लेकिन है क्या ? है वह बेईमानी कि जिससे बढ़कर और कोई बेईमानी हो ही नहीं सकती। जरा ध्यान दीजिये।

तो कहने का मेरा मतलब यह था कि आज सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वह कितना दूषित होगया है ! कि सेवा के

क्रियात्मक रूप में भी अधिकार-लालसा ज्यों-की-त्यों। और वही हमने सिखाई।

इसलिए भाई, आज का जो मौलिक प्रश्न है, वह यह है कि हमारे और आपके जीवन में जो रस की मांग है, वह रस की मांग पूरी नहीं हो सकती अधिकार मांगने से। इसलिये व्यक्तिगत दृष्टि से हम सबको इस बात का विचार करना पड़ेगा कि क्रियात्मक रूप जो सेवा है, उसी का नाम कर्त्तव्य-परायणता है। और कर्त्तव्य का अर्थ ही है—दूसरे के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग। इसलिए आज अगर हमको-आपको सचमुच रस प्राप्त करना है, तो प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने सेव्य की सेवा होकर रहना है प्रत्येक प्रवृत्ति में। बोले, सेव्य कौन है? जो प्रगट है। उस जाने हुए में जब आपकी निष्ठा नहीं रहती, उस जाने हुए में जब आपकी प्रियता नहीं रहती, तो जाने हुए में प्रियता न होना अथवा जाने हुए का प्रभाव न होना अथवा जाने हुऐ का आदर न करना—इन सबका एक ही अर्थ है।

वैसे तो प्रत्येक शब्द के अर्थ में आंशिक भेद रहता है। और वह आंशिक भेद इसलिए नहीं रहता कि अर्थ बदलता है। वह आंशिक भेद इसलिए रहता है कि किसी साधक को किसी प्रकार से समझ में बात आती है और किसी साधक को किसी प्रकार से समझ में बात आती है। क्योंकि समझने का जो प्रकार है, वह प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग है। और यही एक कारण है कि आज हम लोग जो इस बात का प्रयास करते हैं कि जो हम करते हैं, वही दूसरे लोग करें। जो हम मानते हैं, उसी बात को दूसरे मानें। यह जो हमारा-आपका

आग्रह होजाता है और खास तौर से सुधारकों का। इस आग्रह ने एक ऐसे स्थायी भेद को जन्म दिया है, एक ऐसे स्थाई संघर्ष को जन्म दिया है कि दो व्यक्ति ईमानदारी से एक दूसरे के साथ प्रेम नहीं कर पाते।

क्यों? प्रेम में क्या बाधा होती है? अजी, यह कौन हैं साहब? ये तो मुसलमान हैं। भाई, मुसलमान किसे कहते हैं? कि जो कलमा पढ़ता हो। तो भाई, क़लमा का अर्थ क्या है? कि भाई, क़लमा का अर्थ तो यह है कि सिवाय खुदा के कुछ और है नहीं। बात ठीक! और क़लमा किस भाषा में है? कि एक अरबी भाषा कहलाती है, बोले, उसमें वह कहा गया है। तो किसने कहा है? कि एक खुदा का दोस्त था और उसको इलहाम हुआ और उसने बताया है। बात ठीक है। लेकिन उसका अर्थ क्या है? बोले, उसका अर्थ तो यह है कि सिवाय खुदा के कोई और है नहीं। बात बड़ी सुन्दर! जब सिवाय खुदा के कोई और है नहीं, तो समझ में नहीं आता कि आप उपदेश करने किसे जा रहे हैं? आप किसे कह रहे हैं कि आप क़लमा पढ़िये? क्या आप खुदा से कह रहे हैं कि क़लमा पढ़िये? ज़रा ध्यान दीजिये।

इसी प्रकार कोई हिन्दू महोदय हों, वे कहेंगे—वाह! सर्वं खलं ब्रह्मम्, ब्रह्म से भिन्न तो कुछ हुआ ही नहीं। तो भाई, ब्रह्म से भिन्न तो कभी कुछ हुआ ही नहीं, तो फिर यह आप सिखाने किसको जा रहे हैं? यह किसको आप पाठ पढ़ा रहे हैं?

तो इन बातों का उत्तर आज किसी के पास है नहीं। तो करते क्या हैं लोग ? कि इन प्रश्नों को ही गलत कर देते हैं। उसी प्रकार जब मैं यह कहता हूँ कि आप लोग विवेक का आदर कीजिये, तब भी यही लांछन लग सकता है कि भाई, विवेक का अनादर किया किसने ? आप किसको कहते हैं कि विवेक का आदर कीजिये ? तो मानव सेवा संघ की नीति में जो आदेश और उपदेश अपने को दिया जाता है।

३१

विचारणीय बात यह है कि यदि संकल्प-पूर्ति काल में अपना अस्तित्व रह सकता है, तो संकल्प-निवृत्ति काल में भी अपना अस्तित्व रहेगा। अतः संकल्प-निवृत्ति को आदर देना बड़े महत्व की बात है।

जो भोगी है, वही कर्त्ता है। न तो शरीर कर्त्ता, न इन्द्रिय कर्त्ता; न मन कर्त्ता, न बुद्धि कर्त्ता।

अपने अधिकार माँगने का नाम 'पाप' रखलो और दूसरों के अधिकार की रक्षा का नाम 'पुण्य' रखलो।

जो जीवन है उसमें भेद नहीं है। जिसमें अपने को कुछ मानकर सन्तोष किया उसी का नाम होजाता है दार्शनिक भेद।

(अ) यह दार्शनिक भेद साधन हुआ।

(ब) जहाँ समस्त दार्शनिक भेद मिट कर एक होते हैं, वह साधन-तत्त्व हुआ।

(स) और जो जीवन है, वह 'साध्य' है।

"है" में विशेष प्रियता, "है" में विशेष निष्ठा एवं "है" से अभिन्नता—यह साधन-तत्व है।

३१

अ

प्रवचन :

इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होकर जब कर्त्ता संकल्प-पूर्ति के सुख को भोगना चाहता है, तब उसकी कर्म में प्रवृत्ति होती है। और जब कर्म में प्रवृत्ति होती है, तब वह प्रश्न पैदा होता है कि हमने भला काम किया या बुरा काम किया। आप विचार करके देखें कि यदि संकल्प-पूर्ति का प्रलोभन हमको अभीष्ट न रहे—कल्पना करो कि हम इस बात का निर्णय कर लें कि भाई, हमें संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नहीं करना है। आप सच मानिये, चाहे आप अनन्त जन्मों के विकार मानें, चाहे आप इस जन्म के विकार मानें, जो साधक संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग कर देता है, उस साधक में कभी-भी अकर्त्तव्य का जन्म नहीं होता। तो अकर्त्तव्य का बीज क्या है? अकर्त्तव्य का बीज है—संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग।

अब कोई यह कहे कि भला, प्राणी संकल्प-पूर्ति के बिना रह ही कैसे सकता है! तो अगर हम आपसे यह पूछें कि भला, प्राणी के क्या सभी संकल्प पूरे होसकते हैं? तो यह बात भी आपको माननी पड़ती है कि सभी संकल्प पूरे नहीं होते। तो

जिस समय आपका संकल्प पूरा नहीं होता, क्या उस समय आपका अस्तित्व नहीं रहा ? यदि उस समय अस्तित्व रहता है, तो हमें इससे बड़ा प्रकाश मिलता है। और वह प्रकाश यह मिलता है कि यदि संकल्प-पूर्ति में अपना अस्तित्व रह सकता है, तो संकल्प-निवृत्ति में भी अपना अस्तित्व रह सकता है। अगर हम संकल्प निवृत्ति को आदर देने लगें, संकल्प-निवृत्ति का महत्व अपनालें, तो संकल्प-अपूर्ति का जो दुःख था, वह अपने आप मिट जाता है। और जब संकल्प-अपूर्ति का दुःख मिट जाता है, तब संकल्प-पूर्ति के सुख का कोई महत्व ही नहीं रहता।

तात्पर्य क्या निकला ? कि जब संकल्प-पूर्ति के सुख का महत्व नहीं रहता, तब अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होता।

अब लोग सन्देह करते हैं कि हाय ! हाय !! यह कैसी निर्दोषता है, जो जरा-सी असावधानी से दोष में बदल जाती है ! नहीं-नहीं भाई, निर्दोषता कभी दोष में नहीं बदलती। तो दोष में कौन बदलता है ? कि जो आंशिक निर्दोष और आंशिक दोषी है।

देखिये, जरा ध्यान दीजिये ! दोष "यह" में नहीं है, दोष "है" में नहीं है। "है" में दोष हो नहीं सकता, क्योंकि "है" कहते ही उसको हैं, जो अविनाशी हो। और जो अविनाशी होता है, उसमें विकार नहीं होता। यह नियम है। और जिसमें विकार नहीं होता, उसमें दोष आयेगा कहाँ से ?

और "यह" कहते किसको है ? कि जो नाशी हो। जरा ध्यान दीजिये। नाशी बेचारे में दोष रहेगा कहाँ से ! नाशी

ही एक इतना बड़ा दोष है कि जो और सभी दोषों में आ ही नहीं सकता।

तो नाशी में दोष नहीं, अविनाशी में दोष नहीं। जरा ध्यान दीजिये। जिसका नाश होरहा है, उसमें कर्त्तृत्व नहीं होता और जो अविनाशी है, उसमें भी कर्त्तृत्व नहीं होता। यहाँ जरा दर्शन की बात आगई। जो विचारक हैं, उन्हें तो रस मिलेगा। और भोले-भाले बेचारे कहेंगे कि यह क्या बक रहा है! जरा ध्यान दीजिये। जो अविनाशी है, उसमें कर्त्तृत्व हो नहीं सकता क्योंकि उसे कुछ चाहिये नहीं। और जो नाशी है, उसमें कर्त्तृत्व हो नहीं सकता, क्योंकि उसमें चेतना नहीं है। जिसमें चेतना नहीं उसमें कर्त्तृत्व नहीं। और जो स्वभाव से ही चैतन्य है, उसमें कर्त्तृत्व नहीं।

तो कर्त्तृत्व है किसमें? मानना पड़ेगा कि उसमें, जो न अविनाशी है और न नाशवान। आप कहेंगे, बड़े आश्चर्य की बात है, कहते हैं कि अविनाशी भी नहीं है, और है, और नाशवान भी नहीं है, और है। यही तो आश्चर्य है। और इसी आश्चर्य को हल करने के लिये आपको और हमें यह सोचना पड़ेगा कि बताओ, संकल्प का उद्गम स्थान क्या है?

संकल्प किसमें उत्पन्न होता है? तो आजकल के सस्ते छापे खाने में पढ़ कर लोग कहते हैं कि मन में होता है! अरे भाई! मन में संकल्प? कोई मन कर्त्ता है? कोई कहदे कि फाउण्टेनपैन में लिखने का संकल्प है। आप कहेंगे कि पागल होगया है! भला, कलम में भी कभी लिखने का संकल्प होता है? बहुत ठीक। तो फिर मन में कैसे लिखने का संकल्प हो जायेगा?

मन भी तो करण है। तो मन में संकल्प करने की सामर्थ्य नहीं है। जरा ध्यान दीजिये। मन संकल्प का कर्त्ता नहीं है। मन कर्त्ता की रुचि-पूर्ति के लिये संकल्प के रूप में परिणत होता है। जरा ध्यान दीजिये। साधारण व्यक्ति कहते हैं कि मन में संकल्प होता है। मन में संकल्प नहीं होता। मन और संकल्प, ये दोनों अभेद हैं 'अभेद'। लेकिन इस रहस्य को आप जान क्यों नहीं पाते? इसलिये नहीं जान पाते कि आंशिक संकल्प आपके पूरे होते रहते हैं, कुछ बिना पूरे हुए रहते हैं।

इसलिये पूर्ति-अपूर्ति का जो द्वन्द्व है, इस कारण आप कभी-भी संकल्प और मन का विभाजन देख नहीं पाते। और जब संकल्प और मन का विभाजन नहीं देख पाते, तो हार मान कर आप कहने लगते हैं कि मन में संकल्प उठते हैं। अच्छा भाई, मन में संकल्प उठें और दुःखी आप हों! जैसे कोई कहे कि मोटर चल रही है, लेकिन परेशान हम हैं। अजीब आदमी हो, चल रही है मोटर और परेशान हैं आप!

इससे भाई, यह सिद्ध होता है कि हम लोग ज्ञान के सम्बन्ध में भी सीखी हुई बातों को अमल में लाते हैं। तो जब तक जिज्ञासु सुनी हुई और सीखी हुई बात को अमल में लायेगा, तब तक वह सिखाने वाला ज्ञानी तो होजायेगा, पर उसे ज्ञान नहीं होगा। इसलिये कभी-कभी मैं बिनोद में कहता हूँ कि पढ़ने से ज्ञान नहीं होता। लोग इसको विनोद समझकर टाल भी देते हैं, और कोई-कोई जो पंडित होते हैं, जो सचमुच पंडित होते हैं, वे इस बात को मान भी लेते हैं।

क्यों ? जरा सोचिये। ज्ञान का प्रकाश विवेक में अवतरित हुआ। विवेक से बुद्धि में आया। बुद्धि ने उसको संकल्प का रूप देकर मन के स्तर पर कर दिया। और मन ने इन्द्रियों के स्तर पर लाकरके दो भागों में बाँट दिया—एक क्रियारूप में, एक ज्ञानरूप में।

अगर आँख देखती है, तो पैर चलता है। अब आँख ने देखा कि अमुक वस्तु वहाँ पड़ी है। लेकिन आँख में यह सामर्थ्य नहीं है कि उस वस्तु को उठाले, तब पैर वहाँ तक चलेगा। लेकिन पैर में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह उस वस्तु को उठाले, तब हाथ उठायेगा। लेकिन हाथ में भी वह सामर्थ्य नहीं है कि वह उस वस्तु को खाले। तब मुँह खायेगा। और जब मुँह खायेगा, तो मुँह में यह सामर्थ्य नहीं है कि उस वस्तु को पचाले। तब वह पेट के पास संग्रह कर देगा। और पेट पचायेगा और सब अवयवों को बांट देगा। यह प्रवृत्ति आप रोजाना देखते हैं कि नहीं ? लेकिन इसमें आपने कभी यह भी विचार किया कि क्रिया में ज्ञान नहीं, ज्ञान में क्रिया नहीं !

अब आप भौतिक बुद्धि से जोर लगायें कि भाई, देखना भी एक क्रिया है और सुनना भी एक क्रिया है। अरे भाई, देखना तो ज्ञान-इन्द्रिय है, वह भी क्रिया है ? इस प्रकार के ज्ञान को जब आप क्रिया मान लेते हैं, तब वह ज्ञान-इन्द्रिय बिना संकल्प के काम नहीं करती।

तात्पर्य क्या निकला ? कि मन के स्तर पर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों एक होजाते हैं। जहाँ मन के स्तर पर पहुंची वृत्ति, जहाँ आपने मन के स्तर को समझा, तो वहाँ

देखन का जिसमें संकल्प उसी में हाथ से उठाने का संकल्प। संकल्प-कर्त्ता दो नहीं। जरा देखिये। जिसको देखने का संकल्प होता है, उसी को चलने का भी संकल्प होता है, उसी को सुनने का भी संकल्प होता है। संकल्प का कर्त्ता एक और देखने व करने के यन्त्र दो, दो प्रकार के होगये। एक को ज्ञानेन्द्रिय के नाम से कहा आपने और एक को कर्मेन्द्रिय के नाम से कहा। तो मन के स्तर पर कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों एक होगईं।

लेकिन मन में संकल्प उठे, आप निर्णय करदें कि अमुक काम हम नहीं करेंगे—अगर आप यह निर्णय करदें कि यह करने योग्य नहीं है, हम नहीं करेंगे, तो मन अपने आप उस संकल्प को छोड़ देता है। तो आप सोचिये कि अगर मन स्वतन्त्र संकल्पकर्त्ता होता तो बुद्धि के निर्णय-मात्र से कैसे छोड़ देता ? तो पता चला कि बुद्धि भी एक करण है। और उसने जो बात बताई, उसके आधार पर संकल्प का त्याग कर दिया अथवा पूरा कर दिया।

अब आप सोचिये कि बुद्धि यह निर्णय कब करती है ? अगर आपने संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग स्वीकार किया है, तभी बुद्धि निर्णय करेगी कि ऐसा करो। और आप कहें कि हमें संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग स्वीकार नहीं है, तो बुद्धि बेचारी कभी निर्णय करने नहीं जायेगी। सार क्या निकला ? कि जो भोगी है, वही कर्त्ता है।

जरा ध्यान दीजिये। न तो शरीर कर्त्ता, न इन्द्रियाँ कर्त्ता, न मन कर्त्ता, न बुद्धि कर्त्ता। कर्त्ता कौन ? बोले, भोगी। अब भोगी का पता लगाओ कि भोगी कौन है ? जब आप भोगी

का पता लगाने चलेंगे, तो सच मानिये—"यह" को आप भोगी नहीं कह सकते। जिसको "यह" कहके सम्बोधन करते हैं, उसको आप भोगी नहीं कह सकते। और जिसको "है" करके अथवा 'वह" करके सम्बोधन करते हैं, उसको आप भोगी नहीं कह सकते।

तो "यह" भोगी नहीं और "वह" भोगी नहीं। इससे तो यह सिद्ध होगया कि जो नाशी था, वह भोगी नहीं है। और "है" भोगी नहीं हुआ। जो अविनाशी है, वह भोगी नहीं है। तो भला, बताओ तो भाई! फिर भोगी है कौन? अविनाशी भोगी नहीं, नाशी भोगी नहीं। तो जब आप भोगी का पता लगाने चलेंगे और अपने को "यह" से भी हटा लेंगे और "है" से भी हटा लेंगे, तो "यह" से और "है" से हटाते ही भोगी नाश हो जायेगा। और जब भोगी नाश होजायेगा, तब योग रह जायेगा। लेकिन एक बात जानते हैं आप कि उसमें एक बड़ा चमत्कार है। और वह चमत्कार यह है कि "यह" को निकाल देने के बाद और "है" को निकाल देने के बाद, भोगी का अस्तित्व नहीं रहता। यह निर्विवाद सत्य है। किन्तु रहता क्या है? योग रहता है योग!

जब भोगी नहीं रहता, तब भोग नहीं रहता। और जब भोग नहीं रहता, तब रहता है "योग"। तो क्या वह योग श्रम-साध्य है? कदापि नहीं। और आप जानते हैं कि जो श्रम-साध्य नहीं होता, वह हमेशा अखण्ड होता है। और जो श्रम-साध्य होता है, वह हमेशा खण्डवाला होता है। तो उलझन कहाँ पड़ी? कि भोगी रहते हुये, योग-दर्शन का टीका कर बैठे। जरा ध्यान दीजिये। भोगी होकर किया योग-दर्शन

का टीका, तो लगाया योग में भोग। और यह विभूति-पद क्या है ? यह योग में भोग है। तो भोगी होकर किया योग-दर्शन का टीका तो लगा दिया योग में भोग। और भोगी होकर किया वेदान्त दर्शन का टीका, तो लगा दिया ज्ञान में भोग। और भोगी होकर किया आस्तिक-दर्शन का टीका, तो लगा दिया प्रेम में भोग।

प्रेम में भोग कैसा ? ज्ञान में भोग कैसा ? और योग में भोग कैसा ? आप कहने लगे—"मैं योगी !" आप कहने लगे—"मैं ज्ञानी !" आप कहने लगे—"मैं प्रेमी !" तो भाई, जरा सोचो तो सही। मैं और योगी दो चीज होगईं न ? अच्छा भाई, योग को निकाल कर "मैं" क्या ? चुप होना पड़ता है। ज्ञान को निकाल कर 'मैं" क्या ? चुप होना पड़ता है। प्रेम को निकालकर "मैं" क्या ? चुप होना पड़ता है।

तात्पर्य क्या निकला ? तात्पर्य यह निकला कि भाई, योग प्राप्त होने पर जब तक हम योगी हैं, तब तक योग के भोगी हैं। और ज्ञान प्राप्त होने पर जब तक हम ज्ञानी हैं, तब तक ज्ञान के भोगी हैं। और प्रेम प्राप्त होने पर जब तक हम प्रेमी हैं, तब तक हम प्रेम के भोगी हैं। और भाई, जो प्रेम का भोगी है, वह कभी-कभी काम का भोगी होसकता है। और जो ज्ञान का भोगी है, वह कभी-कभी अज्ञान का भोगी होसकता है। और जो योग का भोगी है, वह कभी-कभी भोग का भोगी हो सकता है। इस कारण यह समस्या सुलझ नहीं पाती। और जितना इसको सुलझाते हैं, उतनी ही उलझती ही मालूम होती है कि भाई, हम कैसे मान लें कि वर्तमान निर्दोष है !

अरे भाई, वर्तमान निर्दोष तो ऐसे मान लो कि जहाँ भोगी का नाश है, वहाँ दोष का अत्यन्त अभाव है। तो भोगी का

नाश कैसे होता है ? किसी अभ्यास से होता है ? नहीं, नहीं। भोगी का नाश होता है विवेक से। और किस विवेक से होता है ? जो विवेक आपको प्राप्त है। कौनसा विवेक आपको प्राप्त है ?

जरा सोचो तो सही। कर्त्तव्य के क्षेत्र में किसे अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है ? कर्त्तव्य के क्षेत्र में सभी को अकर्त्तव्य का ज्ञान है। कर्त्तव्य के क्षेत्र के ऊपर है योग-विज्ञान। कर्त्तव्य-विज्ञान की जहाँ समाप्ति होती है, वहीं से योग-विज्ञान का प्रारम्भ होता है।

आप कहेंगे, योग-विज्ञान क्या ! जहाँ शुद्ध संकल्प की पूर्ति के सुख का भोग नहीं है। जहाँ अशुद्ध-संकल्प की निवृत्ति है और शुद्ध-संकल्प की पूर्ति है—यह है कर्त्तव्य-विज्ञान। अशुद्ध-संकल्प की निवृत्ति से दोषों का नाश और शुद्ध-संकल्प की पूर्ति से दूसरों के अधिकार की रक्षा। यही नियम है। शुद्ध-संकल्प की पूर्ति जो होती है, वह दूसरों के अधिकार की रक्षा में होती है। और अशुद्ध-संकल्प का जो त्याग होता है, वह अपने अधिकार के त्याग में होता है।

आप कहेंगे, हम कैसे मान लें ? जरा ध्यान तो दीजिये। अशुद्ध संकल्प कहते किसको हैं ? अशुद्ध संकल्प का अर्थ है—वस्तु के द्वारा, व्यक्ति के द्वारा सुख की आशा। सुख मिले, न मिले, अलग की बात लेकिन सुख की आशा। तो जब वस्तु के द्वारा सुख की आशा हुई, तो लोभ की उत्पत्ति होगई। और जब व्यक्ति के द्वारा सुख की आशा हुई, तो मोह की उत्पत्ति होगई। और जहाँ लोभ-मोह की उत्पत्ति हुई, वहाँ सभी विकारों की उत्पत्ति होगई।

क्योंकि प्रत्येक विकार में अनन्त विकार हैं। ऐसा कोई विकार नहीं है, जिसमें सभी विकार न हों। इसी प्रकार ऐसी निर्विकारता कोई नहीं है, जिसमें समस्त निर्विकारता न हो। हम लोग यह ध्यान नहीं देते, विचार नहीं करते। सच बात तो यह है कि जब विकार का नाश होता है, तब समस्त विकारों का नाश होता है। और जब तक समस्त विकारों का नाश न दिखाई दे, तब तक सोचना चाहिये कि विकार की कमी हुई। और विकार की कमी तो सदैव ही जीवन में रहती है। क्योंकि सर्वांश में तो कोई विकारी होता ही नहीं। सर्वांश में तो कोई दोषी होता ही नहीं।

तो आंशिक निर्दोषता तो जीवन में रहती ही है। लेकिन आंशिक निर्दोषता को निर्दोषता नहीं कहते। इसलिये नहीं कहते कि जब सर्वांश में निर्दोषता आती है, तभी निर्दोष-जीवन कहते हैं। तो तात्पर्य कहने का यह निकला कि वस्तु, व्यक्ति के द्वारा जो सुख की आशा है, यह है अपना अधिकार, और इसी का नाम है अकर्त्तव्य। सच मानिये तो अपने अधिकार का दूसरा नाम दोष है। और दूसरों के अधिकार की रक्षा का दूसरा नाम निर्दोषता कह सकते हैं। अगर अपने अधिकार का नाम 'पाप' रख लो, तो दूसरे के अधिकार का नाम 'पुण्य' रख लो। अगर अपने अधिकार का नाम अकर्त्तव्य रख लो, तो दूसरे के अधिकार का नाम कर्त्तव्य रख लो। तो यह जो कर्त्तव्य-विज्ञान है, इसमें अपने अधिकार का त्याग और दूसरे के अधिकार की रक्षा की बात बताई।

और इसका फल यह बताया कि कर्त्तव्य-विज्ञान सुन्दर

समाज का निर्माण करके कर्त्ता को राग-रहित कर देता है। यानी कर्त्तव्य-विज्ञान का यह फल है कि सुन्दर समाज का निर्माण भी होजायेगा और कर्त्ता राग से रहित भी होजायेगा। तो जब कर्त्ता राग से रहित होता है, तब कर्त्तव्य-विज्ञान अपने आप योग-विज्ञान में विलीन होजाता है, चाहे तो यों मान लो। और चाहे यों मान लो कि कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणी योग को प्राप्त होजाता है।

तो योग-विज्ञान क्या है भाई ? कि योग-विज्ञान में श्रम नहीं है। अच्छा, और क्या है ? योग-विज्ञान में बाहरी हल-चल नहीं है, प्रवृत्ति नहीं है। तो क्या गति नहीं है ? कि नहीं, गति तो है। यहाँ गति में और प्रवृत्ति में बड़ा अन्तर है।

प्रवृत्ति हमेशा "पर" की ओर होती है। और गति हमेशा "स्व" की ओर होती है। तो जो "पर" की ओर प्रवृत्ति होती है, वह पराधीनता में, जड़ता में, अभाव में आबद्ध करती है। और "स्व" की ओर जो गति होती है, वह स्वाधीनता से, चिन्मयता से, पूर्णता से अभिन्न करती है। इसलिये योग-विज्ञान की जो गति है, वह "स्व" की ओर है, "पर" की ओर नहीं। अथवा यों कह दो कि वह "है" की ओर है, "यह" की ओर नहीं है। अथवा यों कह दो कि वह "अनन्त" की ओर है, "सीमित" की ओर नहीं है।

तो योग-विज्ञान की जो गति है, उस गति में कर्तृत्व की गंध भी नहीं है। और जिसमें कर्तृत्व की गंध नहीं है, वह स्वतः है स्वतः। और स्वतः कहते ही उसको हैं, जो अपने आप हो। तो वही योग-विज्ञान किसमें बदलता है ? तत्व-ज्ञान में। जब तत्व-ज्ञान में योग-विज्ञान बदलता है, उसी को

अध्यात्म-विज्ञान कहना चाहिये। कर्त्तव्य-विज्ञान ने हमें योग-विज्ञान में प्रवेश करा दिया। और योग-विज्ञान ने अध्यात्म-विज्ञान में प्रवेश करा दिया। तो अध्यात्म-विज्ञान से क्या मिलता है भाई? अध्यात्म-विज्ञान जो है वह केवल परम प्रेम का प्रतीक है। अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ ही यह होता है कि जहाँ केवल परम प्रेम है। उसी परम प्रेम का नाम आस्तिक-विज्ञान है।

तो आस्तिक-विज्ञान जो हुआ, वह 'साध्य' हुआ। और अध्यात्म-विज्ञान, योग-विज्ञान और कर्त्तव्य-विज्ञान—ये क्या हुये? ये साधन-तत्व हुये। जरा ध्यान दीजिये। कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान—ये हैं साधन-तत्व, साधन नहीं, साधन-तत्व। और आस्तिक-विज्ञान जो है, यह है 'साध्य-तत्व'। तो साध्य-तत्व और साधन-तत्व, इन दोनों में जातीय एकता है, इन दोनों में स्वरूप की एकता है। और इन दोनों में स्वरूप की एकता होने से 'साधन-तत्व' और 'साध्य' में कभो दूरी नहीं रहती, कभी भेद नहीं रहता। जरा ध्यान दीजिये। दूरी नहीं रहती, भेद भी नहीं रहता। और सच पूछिये तो कभी मिलन भी नहीं होता।

आप कहेंगे, अजीव आदमी है। दूरी भी नहीं मानते, भेद भी नहीं मानते और मिलन भी नहीं मानते। तो भाई, अगर दूरी मिटा करके चुप होजाते हैं, तो उन्हीं में योग का अभिमान रहता है। जो दूरी मिटा करके चुप होजाते हैं, और कहते हैं कि बस, यही पूर्णता है, उन्हीं में योग का अभिमान होता है। और जो भेद मिटा करके चुप होजाते हैं और ये स्वीकार करते हैं कि इसी में पूर्णता है, उन्हीं को इस बात का अभिमान होता

है कि 'मैं ज्ञानी हूँ'। और जो भाई प्रेम प्राप्त करके उसकी पूर्णता मान लेते हैं, उन्हीं में यह बात रहती है 'मैं प्रेमी हूँ'।

तो "मैं प्रेमी हूँ", "मैं ज्ञानी हूँ", "मैं योगी हूँ"—यह अलग-अलग जो आप स्वीकार करते हैं, वही दार्शनिक भेद होता है। दार्शनिक भेद और कुछ नहीं। किसी ने योगी मान कर सन्तोष किया, किसी ने ज्ञानी मान कर सन्तोष किया, किसी ने प्रेमी मान कर सन्तोष किया। तो जिसने 'कुछ' मान कर सन्तोष किया, उसी का नाम होजाता है—दार्शनिक भेद। यह दार्शनिक भेद कोई बुरी बात नहीं है। यह मत समझिये कि दार्शनिक भेद का होना कोई असाधन है, असाधन नहीं है। लेकिन दार्शनिक भेद होने पर भी जो जीवन है, उसमें भेद नहीं।

तो दार्शनिक भेद हुआ—साधन। और जहाँ समस्त दार्श-भेद मिट करके एक होते हैं, वह हुआ—साधन-तत्व। और जो जीवन है, वह हुआ 'साध्य'। तात्पर्य क्या निकला ? कि प्रत्येक साधक को अपने-अपने साधन द्वारा साधन-तत्व से अभिन्न होना है। वह साधन-तत्व क्या है ? आस्तिक-विज्ञान, आस्तिकता नहीं। जरा ध्यान दीजिये। आस्तिकता में और आस्तिक-विज्ञान में एक अन्तर है।

आस्तिक विज्ञान कहते हैं—"है" का विज्ञान। "है" का विज्ञान या "है" में विशेष-निष्ठा—यह भी कह सकते हैं। "है" में विशेष-प्रियता—यह भी कह सकते हैं। और यह भी कह सकते हैं कि "है" से अभिन्नता। तो यह जो आस्तिक-विज्ञान है, यह है 'साधन-तत्व'। और यह साधन-तत्व 'साध्य' का स्वभाव है।

और इसी बात को जब मैं अपनी बोल-चाल की भाषा में कहता हूँ, तो कहता हूँ कि भाई, 'प्रेम' जो है वह प्रेमी का तो जीवन है और प्रेमास्पद का वह स्वभाव है। उसी आस्तिक-विज्ञान को व्यक्त करने के लिये किसी ने 'राधा-तत्व' कहा। किसी ने 'गौरी-तत्व' कह दिया। और किसी ने 'सीता-तत्व' कह दिया। और आस्तिक-विज्ञान को व्यक्त करने के लिये किसी नें ज्ञान के साथ 'विज्ञान' कह दिया, निर्विशेष में अगाध-प्रियता।

यह ज्ञान के साथ विज्ञान। और जो निर्विशेष है, उसी में अनन्त विशेषण भी हैं। उसके साथ जो अगाध प्रियता है, उसी को किसी ने राधा-तत्व के नाम से कहा, किसी ने गौरी-तत्व के नाम से कहा, किसी ने सीता-तत्व के नाम से कहा।

तो बात क्या हुई ? कि हम देहाभिमानियों ने इनको अलग-अलग करके, बीच में अपने-अपने साम्प्रदायिक भेद को जन्म दिया। तो मानव-सेवा-संघ की नीति के अनुसार साम्प्रदायिक भेद बुरा नहीं है। लेकिन साम्प्रदायिक भेद में प्रीति का भेद हुआ, यह बुरा है। इसलिये भाई ! प्रत्येक साधक का अलग-अलग साधन होने पर भी, यदि प्रत्येक साधक में प्रत्येक साधक के प्रति प्रीति की एकता नहीं है, तो वह साधक नहीं होसकता।

क्यों ? प्रीति की भिन्नता सत्य की खोज नहीं करने देगी। प्रीति की भिन्नता द्वेष का नाश नहीं होने देगी। जहाँ द्वेष का नाश नहीं होता, वहाँ राग का नाश कभी नहीं होता। और और जहाँ राग का नाश नहीं होता, वहाँ भोग का नाश कभी

नहीं होता। और जहाँ भोग का नाश नहीं होता, वहाँ योग की प्राप्ति कभी नहीं होगी। और जहाँ योग-विज्ञान में ही प्रवेश नहीं होता, तो अध्यात्म-विज्ञान की तो बात ही कहाँ चल सकती है! और जहाँ अध्यात्म-विज्ञान में ही प्रवेश नहीं है, वहाँ आस्तिक-विज्ञान की तो चर्चा ही नहीं हो सकती।

इसलिये भाई! जो हमारा-आपका मौलिक प्रश्न है, वह है—निर्दोष जीवन से अभिन्न होना। तो निर्दोष-जीवन से अभिन्न होने के लिये कर्त्तव्य-विज्ञान द्वारा हम अपने को राग-रहित बनायें और सुन्दर समाज का निर्माण करें।

३१

ब

अब एक बात ध्यान देने की है कि सुन्दर समाज का निर्माण करें—यह बात तो बोल-चाल की भाषा है। नहीं तो, सीधी बात तो यह है कि कर्त्तव्य-विज्ञान को अपनाते ही सुन्दर समाज का निर्माण होजाता है। सुन्दर समाज के निर्माण की कसौटी यह नहीं है कि सुन्दर-सुन्दर सड़कें बन जायँ, सुन्दर-सुन्दर मकान बन जायँ, सभी आवश्यक सामान मिल जाय, कोई व्यक्ति ऐसा न रहे कि जिसके पास पाँच कमरे न हों, कोई व्यक्ति ऐसा न रहे कि जिसके पास कार न हो। यह जो लोग सोचते हैं सुन्दर समाज के अर्थ में, यह उनका सोचना इस दृष्टि से भले ही सही मालूम होता हो कि भाई, कार की वासना है और कार नहीं मिलती। ठीक बात है भाई। अगर कार में कोई भी बैठ सकता है, तो हर एक भाई बैठ सकता है।

तो मैं इस भावना का विरोधी नहीं हूँ। इस भावना का विरोधी नहीं हूँ कि हर आदमी को कार न मिले। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि कार की जीवन में आवश्यकता हर आदमी को नहीं होना चाहिये। देखिये, जरा ध्यान दीजिये। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि हर आदमी को बंगला न मिले, कि हर आदमी को कार न मिले। यह मेरा तात्पर्य कभी-भी नहीं है। लेकिन जरा सोचिये। हर आदमी को कार की

आवश्यकता है क्या ? आप कहेंगे, क्यों नहीं ? हर आदमी को कार की आवश्यकता है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि हर आदमी को कार की ही आवश्यकता है, तो और चीजें कौन बनायेगा ? तो मानना पड़ता है कि जिसको समय कम हो और कार्य अधिक हो, उसको कार की आवश्यकता है। और जिसको समय अधिक है और कार्य कम है, उसके लिये कार बेकार। मैं सच कहता हूँ, बिल्कुल बेकार।

क्यों ? घोड़े से जब ऐक्सीडेण्ट होता था, तो बहुत कम चोट लगती थी। और कार से जब होता है, तब ? और प्लेन से जब होता है, तब क्या दशा होती है ? तो जहाँ आप कार में बैठने के सुख के प्रलोभन में आबद्ध होते हैं और यह सोचने लगते हैं कि हर आदमी को कार चाहिये या जिसके पास कार है वह सोचता है कि मुझको हर वक्त कार चाहिये—ये दोनों बातें गलत हैं। हर वक्त कार नहीं चाहिए। और हर वक्त कार चाहिए, तो कार वाले आकर जंगल में घूमते क्यों हैं ? जरा विचार कीजिये। हर वक्त अगर कार चाहिए, तो घूमने का काम तो कार नहीं दे सकती !

तो ये जो आज हमारे जीवन में एक सन्तुल नहीं रहा, एक सावधानी नहीं रही कि जो चीज हमको नहीं चाहिये, वह भी चाहिए और जो चीज चाहिए, वह भी चाहिए। इस रोग ने आज के धनी को महाराज, महा निर्धन बना दिया ! कोई अभिमान भले ही करे कि मेरे पास धन है। मैं तो कहता हूँ कि धनी जितना निर्धन है, उतना निर्धन निर्धन नहीं है।

क्यों ? निर्धन को श्रम करना पड़ता है और श्रम करता है और पेट भरता है। और धनी जो है, वह श्रम भी करता है,

पेट भी भरता है और भूखा भी रहता है। जितनी चिन्ता, जितना भय, जितनी संकीर्णता—जरा ध्यान दीजिए—संकीर्णता का अर्थ यह नहीं है। आपने दस लाख में-से एक लाख दे दिया और बड़े उदार हो गए। अरे, आपने तो अपने में-से एक बटा दस दिया। उदार तो वह है जिसने डेढ़ रुपया मजदूरी से कमाया और रात को उपवास किया और पूरा दे दिया। आप किसी धनी को इतना दानी बता सकते हैं कि जिसने अपनी पूँजी का बड़ा हिस्सा दान में दिया हो और छोटा हिस्सा रखा हो ? आपको हम गरीबों में सैकड़ों को बता दें कि जिन्होंने बड़ा हिस्सा दान में दिया और छोटा हिस्सा रखा। तो बताइए उदार कौन ज्यादा हुआ ? इसका अर्थ कोई भाई यह न समझ बैठें कि मैं किसी व्यक्ति विशेष से यह बात कहता हूँ। उसूल से सोचिए।

तो धन के संग्रह से कोई निर्धनता मिट जाय—यह बात नहीं है। हाँ, धन के संग्रह से एक मिथ्या अभिमान आजाय, यह बात जरूर है। और धन न रहने से कोई निर्धन होजाय, यह बात भी जरूरी नहीं है। तो आज रोग क्या लगा ? कि जिसके पास धन नहीं है, वह भी अपने को निर्धन मानता है और जिसके पास धन है, वह भी अपने को निर्धन मानता है। और दोनों निर्धन मान कर, एक सोचता है कि हम किसी तरह से नहीं देंगे, एक कहता है कि हम बलपूर्वक छीन लेंगे।

तो जरा ध्यान दीजिए। क्या यह मानवता है ? यह मानवता नहीं है। क्या यह साधन है ? यह साधन नहीं है। क्या इससे विकास होगा ? विकास नहीं होगा। आज तुम छीन लोगे, तो छीनने की मनोवृत्ति से कल दूसरे लोगों में यह

बात पैदा होगी। और वे भी छीन लेंगे। और छीनने का एक क्रम चल जायेगा।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ केवल इतना है कि जो आपको प्राप्त है—शरीर वाले को शरीर प्राप्त है, योग्यता वाले को योग्यता प्राप्त है, वस्तु वाले को वस्तु प्राप्त है। जो जिसको प्राप्त है, वह उसका दुरुपयोग न करे। बस, इतनी-सी बात है। जब हम प्राप्त का दुरुपयोग नहीं करते, तो आप जानते हैं? एक बड़ा भारी सत्य है। और वह सत्य यह है कि जो प्राप्त का दुरुपयोग नहीं करता, उसको आवश्यक वस्तु स्वतः प्राप्त होती है।

परन्तु आज इस कर्त्तव्य-विज्ञान पर भरोसा नहीं रहा। न तो मुझे मजदूर का दिखाई देता है भाई, न महाजन का दिखाई देता है। और व्यक्तिगत रूप से मजदूर में भी है और महाजन में भी है। सभी में है। लेकिन सामूहिक रूप से नहीं दिखाई देता। क्यों? यह भरोसा अगर होता, तो हम चौबीस घण्टे में आठ ही घण्टे काम करेंगे— यह बात मजदूर कभी नहीं मानता। उसे यह बात मालूम होती कि यह मेरा जो श्रम है, शारीरिक श्रम जो मुझे प्राप्त है, और पढ़े-लिखे को मालूम होती कि बौद्धिक श्रम जो मुझे प्राप्त है, उस श्रम से ही मेरी आवश्यकता पूरी होगी। पर ऐसा नहीं मानता, बड़ा भयभीत होता है।

एक बार एक मिल के इन्जीनियर हमसे मिलने आये। हमने पूछा—आपको क्या तनुख्वाह मिलती है? उन्होंने कहा—बारह सो रुपया मिलता है। हमने कहा— हमें एक बात बताओ दोस्त, वह बेपढ़ा-लिखा सेठ धन कमाता है कि तुम? तो उसे

कहना पड़ा कि हम। तो मालिक तुम कि वह ? बोले, मालिक वह। हमने कहा—वह कैसे ? कि वह हमको निकाल सकते हैं। तो हमने कहा कि अगर तुम अपनी योग्यता में विश्वास करो (पढ़े-लिखे लोग)—देखिये, सब कहते हैं कि पूँजीपति ने समाज को बिगाड़ दिया। अगर मुझसे कोई पूछे, तो सबसे ज्यादा तो मैंने बिगाड़ दिया। क्योंकि जब वीतराग पुरुष नहीं रहते, तो पढ़े-लिखे लोग बिगड़ जाते है। उसके बाद नम्बर आता है, पढ़े-लिखों ने बिगाड़ दिया। क्योंकि जब पढ़े-लिखे लोग बिगड़ते हैं, तो राष्ट्र बिगड़ जाता है। और जब राष्ट्र बिगड़ता है, तो सारी जनता बिगड़ जाती है। तो सबसे बड़ा दोषी तो है—मैं, मैं बस, दुष्टता अपनी मानता हूँ।

तो मैंने उनसे कहा कि अगर पढ़े-लिखे लोग यह सोचें कि भाई देखो, इस सेठ ने अमुक मैनेजर के साथ अन्याय किया, तो हम नहीं काम करने जायेंगे। तो क्या सेठ बेचारा तुमको निकाले ? और अगर तुम ठीक-सही काम करो, सही काम इस मायने में कि जो योग्यता तुम्हें प्राप्त है, उस योग्यता के आधार पर न सेठ के अधिकार का अपहरण होने दो, न मजदूर के अधिकार का अपहरण होने दो, तो कभी झगड़ा पैदा होगा ? बोले, कभी नहीं। लेकिन तुम करते क्या हो ? कि अपने लालच में सेठ की उस नीति को मान लेते हो, जो नहीं माननी चाहिये।

और यही दोष हमारे नेता में आया। हमारे नेता ने मजदूर की उस नीति को मान लिया, जिसे नहीं मानना चाहिए। क्यों मान लिया ? इसलिये नहीं कि उन्हें मजदूर के साथ कोई सहानुभूति है। इसलिए कि हर मजदूर के चन्दा

में-से जो हिस्सा मिले, वह अपना धन, और पूंजीपति से जो मिले चुपचाप, वह अपना धन। तो दोहरा धन बनाकर हर एक व्यक्ति ने धन के सम्पादन का प्रयास किया और नाम लिया-सुधार का। जरा सोचिए, निन्दा करते है धनी की। किसलिये ? बोले, उसके पास धन है। और चाहते क्या हैं ? बोले, धन। तो जिस धन ने आज किसी को भी पागल बनाया, क्या वह धन आपको पागल नहीं बनायेगा ? तो भाई, इसका नाम सुधार नहीं है। इसका नाम कर्त्तव्य-विज्ञान नहीं है।

कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ केवल इतना है कि अगर आप सचमुच मानव हैं, तो जो वस्तु आपको प्राप्त है—शरीर भी एक वस्तु है मेरे भाई, इन्द्रियाँ भी एक वस्तु हैं, बुद्धि भी एक वस्तु है, मन भी एक वस्तु है, प्राण भी एक वस्तु है। तो जो वस्तु आपको प्राप्त है, उसका सदुपयोग कीजिये। आज हमसे यह भी नहीं होपाता कि हम अपने मन से किसी को बुरा न समझें ! आज हमसे यह भी नहीं होपाता कि हम शरीर को संयमी बना सकें। आज हमसे यह भी नहीं होपाता कि हम बुद्धि को मन के अधीन न रखें। तो जो चीज आपको प्राप्त है, उसी का जब आप सदुपयोग नहीं कर पाते, तो जो आगे प्राप्त होगी, उसका आप सदुपयोग कर पायेंगे ? कदापि नहीं कर पायेंगे।

इसलिए मानव सेवा संघ की नीति में यह बात स्वीकार कर ली गई कि प्रत्येक मानव मानव है। और मानव होने के नाते उतना ही महान् है, जितना कोई भी मानव हो सकता है। एक मिल-ओनर जितना मानव हो सकता है, एक मजदूर भी उतना ही मानव होसकता है। एक आँखों का अन्धा जितना मानव हो सकता है, एक आँखों वाला

उतना ही मानव होसकता है। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि परिस्थिति भेद होने से, योग्यता भेद होने से हम मानव में भेद होजाय—इस बात को मानव सेवा संघ नहीं मानता।

तो किस बात को मानता है ? कि जब मानव होने के नाते हम सब एक हैं, तो हमारा-आपका वास्तविक जीवन एक है। और वह वास्तविक जीवन कब मिलेगा ? जब कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान, आस्तिक-विज्ञान और हमारे जीवन में एकता हो।

तो मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ है – दूसरे के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग। अब इस मन्त्र को आप मजदूर और महाजन में लगा लीजिए, दो वर्गों में लगा लीजिए, दो देशों में लगा लीजिए, दो सम्बन्धियों में लगा लीजिए। अगर सभी स्तरों पर इस मन्त्र से सफलता न होजाय, तो आप जो चाहें सो कीजिए।

फिर क्या होगा ? कर्त्तव्य-विज्ञान के आधार पर कैसे समाज का निर्माण होगा ? भाई, ऐसे समाज का निर्माण होगा कि जिस समाज को न तो रानी के पेट से निकले हुए राजा की आवश्यकता होगी और न जनता के पेट से निकले हुए प्राइम मिनिस्टर की आवश्यकता होगी। यानी राष्ट्र की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। कब ? जब जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान होगा तब।

और कर्त्तव्य-विज्ञान किसके जीवन में होगा ? मानव सेवा संघ का इस सम्बन्ध में ऐसा निर्णय है कि उपदेश दूसरे को नहीं देना है। यह तो हमको और आपको स्वयं ही मानना

होगा। यानी हमको मानना होगा कि हमारे जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान हो। आपको मानना होगा कि हमारे जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान हो। तो अपने सुधार से पूर्व जो दूसरे के सुधार की बात कही जाती है, यह सुधारवाद एक पेशा है। और मैं भी उसी पेशे में हूँ। क्योंकि मैं भी तो वही न! कर रहा हूँ। लेकिन यह कहता हूँ कि अपना सुधार जो नहीं कर सकता, वह किसी का सुधार नहीं कर सकता, सुधार के नाम पर अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है।

कल मैं विद्यार्थियों से बात कर रहा था। मैंने कहा कि तुम किसको बड़ा आदमी मानते हो? तो लोगों ने जवाहरलाल जी का नाम लिया और राजेन्द्र बाबू का नाम लिया। बड़े-बड़े लोगों का नाम लिया, महात्मा गाँधी का नाम लिया, तिलक का लिया। तो मैंने कहा कि सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए कि भोग में? तो वही छोटे-छोटे बच्चे कहते हैं—त्याग में। तो हमने कहा कि इन लोगों में-से कुछ लोगों ने त्याग में अन्त किया कि भोग में बोले कि भोग में। तो सेवा हुई कि पुण्य-कर्म? तो बच्चों को कहना पड़ा कि पुण्य-कर्म।

तो आज-कल हम लोग साधन करते समय इस बात को भूल जाते हैं कि हम मानव हैं। और करते क्या है? कि साधन सीखने को साधन मानते हैं। साधन सिखाने को साधन मानते हैं और असाधन का त्याग करके साधन की अभिव्यक्ति नहीं होने देते। अब आप जरा ध्यान दीजिये। और गम्भीरता से इस बात पर विचार कीजिए कि अपने अधिकार का त्याग क्या श्रम-साध्य है या विचार-सिद्ध?

अगर आपने यह विचार कर लिया कि चाहे पति-पत्नी के बीच की बात हो और चाहे पिता-पुत्र के बीच की बात हो और चाहे प्रजा और राष्ट्र के वीच की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो, चाहे दो देशों के बीच की बात हो— अगर आज का मानव इस बात को मान लेता है कि मुझे अपने अधिकार का त्याग करना है। सच मानिये, विद्यमान राग तो दूसरे के अधिकार की रक्षा करने से नाश होगा। लेकिन अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी। यह बड़ा भारी सत्य है। विद्यमान राग दूसरे के अधिकार की रक्षा से नाश होजाता है और अपने अधिकार का त्याग करते ही नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। और जब नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, तो राग-रहित होने पर जो प्रवृत्ति होती है, उसमें कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं होता, उसमें फल की आसक्ति नहीं होती।

तो आज हमसे भूल क्या हुई ? कि कर्म-योग को खूब सीखा और खूब सिखाया, किन्तु किया नहीं। क्यों नहीं किया ? कि अपने अधिकार का त्याग आज अभीष्ट नहीं है। दूसरे के अधिकार की रक्षा में आज आकुलता नहीं है, व्याकुलता नहीं है। व्याकुलता तो ऐसी होनी चाहिए कि हाय ! हाय !! हम अगर दूसरे के अधिकार की रक्षा नहीं करेंगे. तो हमारा विद्यमान राग नाश ही नहीं होगा। अगर यह भावना हम और आप स्वीकार करलें, तो हर एक भाई प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा राग-रहित होजाय।

आज एक बड़े समझदार साधक हमारे अभिन्न हृदय हमसे कहते हैं कि यह तो एक बन्धन होगया, बड़ी सजगता होगई !

जरा सोचो तो सही, दूसरे के अधिकार की रक्षा बन्धन है ? यह महान् स्वाधीनता है। और अपने अधिकार का त्याग कोई श्रम है ? लेश-मात्र भी श्रम नहीं है।

तो जो आप कर सकते हैं अथवा जो आप करते हैं, उसमें क्या इस बात का प्रकाश है कि हम दूसरे के अधिकार की रक्षा कर रहे हैं ? क्या ऐसा है ? अच्छा, और क्या आपने अपने अधिकार का त्याग कर दिया है ? यदि आपने अपने अधिकार का त्याग कर दिया है और प्रवृत्ति दूसरे के अधिकार की रक्षा में है, तो प्रवृत्ति भी राग-रहित होने का साधन और सरकार ! निवृत्ति ? तो बोले, निवृत्ति भी राग-रहित होने का साधन। और जहाँ राग-रहित भूमि प्राप्त हुई कि योगरूपी वृक्ष आगया अपने आप। यह बड़ा अलौकिक वृक्ष है, सींचना नहीं पड़ता। और जहाँ योगरूपी वृक्ष आया कि उसमें तत्व-ज्ञान रूपी फल लग गया अपने आप। और जहाँ तत्व-ज्ञान रूपी फल लगा कि उसमें प्रेम का रस परिपूर्ण है।

तो साधन का आरम्भ कहाँ से हुआ भाई ? कर्त्तव्य-विज्ञान से। अन्त कहाँ हुआ ? आस्तिक-विज्ञान में। और मध्य में क्या है ? योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान। अब जरा ध्यान दीजिए। कर्त्तव्य-विज्ञान का फल है सुन्दर समाज का निर्माण। योग-विज्ञान का फल है—सामर्थ्य-सम्पादन। अध्यात्म-विज्ञान का फल है—स्वाधीनता और अमरत्व। आस्तिक-विज्ञान का फल है—अगाध-अनन्त रस। जहाँ ये समस्त विज्ञान एक होजाते हैं, उसका नाम मानव सेवा संघ की भाषा में 'मानवता' है। और उस मानवता में ही पूर्णता निहित है।

क्यों ? मानव की माँग सभी को। और मानव की ? बोले, अपनी तो कोई माँग ही नहीं। आप कहेंगे, मानव की माँग सभी को क्यों होगई ? इसलिए होगई कि मानव-जीवन जगत् के लिए उपयोगी है। यह उसकी कसौटी है। और मानव-जीवन अपने लिए भी उपयोगी है और मानव-जीवन प्रभु के लिए भी उपयोगी है।

तो मानव-सेवा-संघ उसी को 'मानव' मानता है कि जिसका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो। और वह हो सकता है। क्यों होसकता है। कि उस जीवन के लिए हमें 'पर' की ओर नहीं देखना है।

देखिए, मानवता का ह्रास तभी होता है, जब मानव-जीवन पाकर चाहे उसकी कितनी ही भयंकर परिस्थित हो, कितनी ही प्रतिकूल परिस्थिति हो। जब मानव होकर यह सोचता है कि मेरे सुख का कारण कोई और हो सकता है अथवा मेरे दुःख का कारण कोई और होसकता है—यही सबसे बड़ी अमानवता है। और यह मानव के लिए बड़े ही कलंक की बात है कि मानव-जीवन पाकर कोई यह सोचे कि मुझे किसी और से सुख मिलेगा, और मुझे किसी और ने दुःख दिया है। भाई, यह बात हम लोग जब तक सोचते रहेंगे, सच पूछिये, मानव-जीवन का महत्व नहीं जान सकते। और जब मानव-जीवन का महत्व ही नहीं जान सकते, तब मैं आपसे पूछता हूँ - साधन का प्रश्न क्या ब्रह्म में पैदा हुआ ? साधन का प्रश्न क्या ब्रह्म में है ? या साधन का प्रश्न जगत् में है ?

न जगत् में साधन का प्रश्न है, न ब्रह्म में साधन का प्रश्न है। साधन का प्रश्न है मानव में। इसलिए साधन का उत्तर-

दायित्व मानव-मात्र पर है। और वह साधन हमें तभी प्राप्त होसकता है, जब हम इस बात को स्वीकार करलें कि कर्त्तव्य-विज्ञान के द्वारा हम सुन्दर-समाज का निर्माण करेंगे, योग-विज्ञान के द्वारा हम सामर्थ्य-सम्पन्न होजायेंगे, अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा हम अमर होजायेंगे और आस्तिक-विज्ञान के द्वारा हम अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि करेंगे। यह जिसका उद्देश्य है और जो स्वाधीनतापूर्वक इस उद्देश्य को पूरा कर सकता है, मेरे विचार से उसी का नाम 'मानव' है और उसी की मांग जगत् को भी है, प्रभु को भी है।

३२

साधक का परम पुरुषार्थ है—अपने जानते अपनी वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना। उसका सबसे सुन्दर उपाय है—पर-दोष दर्शन न करना। न हम किसी को बुरा समझें और न किसी की बुराई सुनें।

सबसे बड़ी सेवा है—पराये दुःख से करुणित होना तथा दूसरों के सुख से प्रसन्न होना।

कर्त्तव्यपरायणता फैलती है कर्त्तव्य पालन से, न कि उपदेश, आदेश या सन्देश से।

सत्संग का अर्थ है—मौजूद का संग। उसमें श्रम, काल अपेक्षित नहीं है। जो नित्य विद्यमान है उसकी विद्यमानता का अनुभव वर्तमान की उपलब्धि है।

'करने वाले चिन्तन' से 'होने वाला चिन्तन' कुछ क्षणों के लिए दब भले ही जाय, मिटता नहीं है। 'होने वाला व्यर्थ चिन्तन' "होने वाली मधुर स्मृति" के उदय होने पर मिटता है।

३२

अ

प्रवचन :

किसी दूसरे के द्वारा बताया हुआ जो दोष है, उसका निवारण हो सके अथवा न होसके, किन्तु अपने जाने हुए दोष के त्याग में सभी साधक सर्वदा स्वाधीन हैं। दोष का ज्ञान और दोष-जनित वेदना प्राकृतिक नियमों के अनुसार तो युगपत् है। क्यों? कोई भी अपने को दोषी बना कर रखना पसन्द नहीं करता। यही कारण है कि जब कोई किसी को बुरा समझता है, तो उसे अच्छा नहीं लगता। किन्तु जब वह स्वयं अपने दोष को जानता है, तब उसे अपने सम्बन्ध में विचार करने की सामर्थ्य आती है; और अपने पर अपने द्वारा न्याय करने में तत्पर होता है। निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए सर्वोत्कृष्ट उपाय है—अपने प्रति न्याय करना। जब हम अपने प्रति न्याय करना आरम्भ कर देते हैं, तब वर्तमान निर्दोषता स्वतः सुरक्षित होजाती है।

आप विचार करें—परस्पर में वैर-भाव क्यों होता है? जीवन में अशुद्ध संकल्प क्यों उत्पन्न होते हैं? आपको स्पष्ट ज्ञात होगा कि जब तक हम किसी को बुरा नहीं समझते, तब तक वैर-भाव की उत्पत्ति नहीं होती। और जब वैर-भाव की

उत्पत्ति ही नहीं होती, तो निर्वैरता अपने आप आती है। जिसके जीवन में निर्वैरता है, उसी के जीवन में निर्भयता है। और जब निर्भयता आती है, तो समता भी आजाती है। और जब समता आजाती है, तब मुदिता अर्थात् अखण्ड प्रसन्नता स्वतः रहने लगती है। अब आप विचार करें—वैर-भाव से रहित होने में कितना लाभ है ! परम लाभ है।

वैर-भाव का जो सूक्ष्मरूप है, वह क्या है ? दूसरों को बुरा समझना, गैर मानना, उनके और अपने बीच में स्वरूप की एकता स्वीकार न करना। इन्हीं सब बातों से वैर-भाव पोषित होता है। जब साधक पर-दोष दर्शन से रहित हो जाता है, तब उसे अपने दोषों का ज्ञान होता है। दोष का ज्ञान जिस काल में होता है, उस काल में वह निर्दोष होता है, अर्थात् निर्दोषता में ही दोष का ज्ञान होता है। उसे यह व्यथा तो होती है कि हाय ! मुझसे भूल हुई ! पर उसे यह अनुभव नहीं होता कि मैं भूल कर रहा हूँ।

दोष किया जाता है, दोष सदैव नहीं रहता। यह नियम है कि 'करने' का अन्त होता है। उसके परिणाम का भी कालान्तर में नाश होता है। किये हुए का परिणाम सदैव नहीं रहता, और न 'करना' सदैव रहता है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि दोष सदैव नहीं रहता। और उसका जो फल है, वह भी नाश होजाता है। यह है प्राकृतिक विधान।

अब केवल इतना ही दायित्व है अपने पर कि हम अपने जानते अपनी निर्दोषता सुरक्षित रखें। उसका सबसे सुन्दर उपाय है—पर-दोष दर्शन न करना। न हम किसी को बुरा समझें और न किसी की बुराई सुनें। तो जो दूसरों की बुराई

से अपने को बचा लेता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोष होने के लिए तत्पर होजाता है।

आप देखिये कि हमें जो दोष को दोष जानने की शक्ति मिली है, उसका उपयोग तो है जीवन में, उसका उपयोग है अपने पर। और प्रत्येक भाई और प्रत्येक बहन को यह अनुभव होगा कि उसमें क्षमा करने की शक्ति भी है। यदि क्षमा करने की शक्ति न होती, तो स्वयं बुराई करने पर अपने को क्यों सन्तुष्ट रखता है? यहीं न! कारण है कि वह अपने को क्षमा कर लेता है। सोचने लगता है—'क्या बतायें! परिस्थिति ऐसी आगई, जिससे मुझे क्रोध आगया। मुझसे यह भूल हुई।' तो उस भूल का कारण परिस्थिति को मान लेता है। यह क्या है? यह बड़े ही सूक्ष्म ढंग से अपने को क्षमा करना है।

परिस्थिति तो साधन-सामग्री है। और दोष भूल-जनित है। तो अपने दोष का कारण परिस्थिति को मानलेना, यह अपने को क्षमा करना है। और आप जानते हैं, अपना विकास अपने को क्षमा करने से नहीं होता। अपना विकास होता है अपने प्रति अपने ही द्वारा न्याय करने से। यह जो क्षमा का प्रयोग है, वह 'पर' के लिये है। और यह न्याय की जो जो प्रणाली है, वह 'अपने' लिये है।

तो जब मानव अपने प्रति न्याय करने लगता है, तब वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोषता को सुरक्षित रखता है। यह बात बहुत गम्भीरता से विचारणीय है कि निर्दोषता मौजूद है। हम किये हुए दोषों से उसे ढकते रहते हैं। निर्दोषता कहीं से आयेगी, उसकी उत्पत्ति होगी—ऐसी बात नहीं है। निर्दोषता तो आपके जीवन में है। क्यों? जिसने आपका निर्माण किया

है, वह निर्दोष है। निर्दोष का किया हुआ निर्माण दोषयुक्त नहीं होसकता। तो आप कहेंगे कि दोष की उत्पत्ति क्यों हुई ? अपनी भूल से।

भूल होती है जाने हुये की। बिना जाने की भूल नहीं होती। तो अपनी भूल क्या है ? हमने अपने सम्बन्ध में विचार करना बन्द कर दिया।

मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार प्रत्येक भाई-बहन को जगने के बाद, सोने के पहले, कार्य के आदि और अन्त में शान्त होना है। शान्त होने से जो हम कर चुके हैं, उसकी स्मृति आती है, उसके आने से हम अपनी वस्तुस्थिति से परिचित होते हैं। और जब साधक अपनी दशा से भली-भाँति परिचित होजाता है, तब उसमें एक चेतना आती है, जागृति आती है। वह विचार करने लगता है कि मैंने ऐसा क्यों किया ! मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था ! बस, जब उसने यह स्वीकार किया कि मुझे यह नहीं करना चाहिए था, तो इसका अर्थ यह होजाता है कि 'अब कभी नहीं करूंगा।' इस प्रकार दैनिक व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा हम अपना निरीक्षण कर सकते हैं। और निरीक्षण के आधार पर जो भूल होचुकी है, उसके न दोहराने का निर्णय कर सकते हैं।

जब आप किसी दूसरे से अपने कर्त्तव्य के बारे में पूछते हैं, तब आप सचमुच अपनी ओर देखते नहीं हैं। मेरा यह अनुभव है कि अपने कर्त्तव्य का ज्ञान अपने में मौजूद है और उसके पालन की सामर्थ्य भी है। यदि ऐसा न होता, तो अपने पर कोई दायित्व नहीं होसकता था। जिस बुराई को हम बुराई करके नहीं जानते, भला, उसके त्याग का प्रश्न ही कैसे

आयेगा ! और जिसे नहीं कर सकते, वह हमारा कर्त्तव्य ही कैसे होगा !

तो यह बात प्रत्येक भाई-बहन को अपने जीवन में-से सदा के लिए निकाल देना चाहिए कि हमारा कर्त्तव्य कोई दूसरा बतायेगा। हाँ, यह बात होसकती है कि हम जिन पर श्रद्धा रखते हैं, उनका परामर्श ले सकते हैं, और अपने निर्णीत कर्त्तव्य का समर्थन पा सकते हैं। आज्ञा नहीं, ज्ञान नहीं, केवल समर्थन कि हाँ, ठीक बात है।

प्राचीन प्रथा के अनुसार यही प्रणाली थी कि जब कोई साधक किसी से परामर्श लेता, तो वह स्वयं अपनी बात सामने रख देता—यह मेरी दशा है। और वह बड़े संकेत से कहता कि भाई, तुम क्या कर सकते हो ? कि मैं यह कर सकता हूँ। अगर वह ठीक है, तो समर्थन मिलता। और समर्थन को लेकर वह अपने कर्त्तव्य पर स्वयं आरूढ़ होजाता। क्यों ? क्योंकि वह अपना जाना हुआ था, यों। उससे स्वयं क्रमिक विकास होता। जैसे-जैसे कर्त्तव्य पालन करता जाता, वैसे-वैसे कर्त्तव्य का ज्ञान भी बढ़ता जाता। और एक समय वह आजाता कि वह, जो करना चाहिए था, उसके अन्त में उसे पूरा करके, 'करने' के राग से रहित होजाता।

सच पूछिये, तो क्या करना है ? 'करने' के राग से रहित होना है और क्या करना है ! करने के राग से रहित होने पर तादात्म्य नहीं रहेगा। न वस्तुओं से, न योग्यता से, न सामर्थ्य से, तादात्म्य ही नहीं रहता अर्थात् असंगता आजायेगी। और असंगता के आते ही निर्वासना, निर्भयता, निर्वैरता, समता और मुदिता—ये दिव्य गुण स्वतः प्राप्त होते हैं। अब

आप सोचिये कि 'करने' का राग रहते हुए असंगता सम्भव ही नहीं है। और असंगता के बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है।

अब प्रश्न यह सामने आता है कि यदि हम अपने कर्त्तव्य से परिचित हैं, तो अकर्त्तव्य की उत्पत्ति क्यों होती है? मेरे जानते, उस ज्ञान का जिससे हम कर्त्तव्य को जानते हैं, हैं, अनादर करने से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है। न जानने से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे, कल्पना करो, आपके जितने सम्बन्धी हैं, वे सब किसी-न-किसी रूप में आपको अपना मानते हैं और आप उन्हें अपना मानते हैं। किन्तु क्या कोई ऐसा सम्बन्धी है जो केवल आप ही का हो? आपकी पत्नी किसी की बहन भी है, किसी की बेटी भी है, किसी की माँ भी है। अनेक सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के साथ हैं। आप यह सोचें कि ये सारे सम्बन्ध तोड़कर केवल हमारे ही सम्बन्ध को माने, तो क्या यह सम्भव होगा? कभी नहीं होगा।

हाँ, एक बात सम्भव होगी कि यदि आप चाहें, तो सभी सम्बन्धों को तोड़कर किसी 'एक' में और उस 'एक' में जो सभी का है—उससे नहीं, जो किसी का हो और किसी का न हो। जो सभी का 'एक' है, वह तो सर्व का आश्रय न! होगा, सर्व का प्रकाशक न! होगा, सर्व का ज्ञाता न! होगा। हाँ, आप स्वयं सभी सम्बन्ध तोड़कर 'उससे' सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। और जब उससे' सम्बन्ध जोड़ेंगे, तो सभी की सेवा का दायित्व आप पर आजायेगा। क्योंकि सभी उसके हैं। जिसको आपने अपना स्वीकार किया, उसके सभी हैं। तो 'उसके' नाते सभी की सेवा आप कर सकते हैं। किन्तु किसी और को अपना न मानने से किसी से सुख की आशा नहीं कर सकते।

अब आप विचार करें कि जब आपने किसी 'एक' के नाते सभी की सेवा की और सभी की ममता तोड़ने से अपने जीवन में-से सुख की आशा का त्याग किया। तब आपका चित्र क्या होगा ? जो मानव किसी से सुख की आशा नहीं करता और सभी की सेवा करता है, उसे क्या प्राप्त होता है ? सुख की आशा न करने से उसके जीवन में क्षोभ नहीं होता, क्रोध नहीं होता, राग नहीं रहता। क्षोभ और क्रोध के न रहने से स्मृति आती है। वह जानता है कि मुझे क्या करना चाहिए। वह जानता है कि 'मैं' क्या हूँ ? वह जानता है कि मेरा कौन है। इसलिए क्रोध-रहित होने पर स्मृति स्वतः जाग्रत होती है।

आज हमने इस मानव-जीवन के विज्ञान को भुला दिया है। हम लोग मानने लगे हैं कि मानो क्रोध प्राकृतिक दोष है। प्राकृतिक दोष नहीं है, यह अपना बनाया हुआ दोष है। और यह दोष तब आता है जीवन में, जब हम किसी से सुख की आशा करते हैं। और हम दूसरों से सुख की आशा तब करते हैं, जब अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हैं। अथवा यों कहो कि जब हम अपने प्रेमास्पद को भूलते हैं। जो अपना नहीं है, उसे जब अपना मानते हैं, तब सुख की आशा करते हैं। जो हमारा-आपका सभी का अपना है, 'उसको' जब आप अपना मानते हैं, तब आप किसी से सुख की आशा नहीं करते। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट बोध होजाता है कि क्रोध प्राकृतिक दोष नहीं है अपितु अपनी भूल का परिणाम है।

आप सोचिए तो सही, जिससे आप सुख की आशा करते हैं, क्या वह स्वयं दुःखी नहीं है ? किसी निर्धन से कोई धन की आशा करे, किसी निर्बल से कोई बल की आशा करे, तो

वह आशा भ्रमात्मक नहीं है ? आप विचार करें, गम्भीरता से विचार करें। आंशिक सुख जीवन में है, सर्वांश में कोई सुखी नहीं है। आप स्वयं भी अगर अपने सम्बन्ध में सोचेंगे तो आप सर्वांश में सुखी नहीं हैं। इसीलिए आप किसी के दुःख को दूर नहीं कर सकते। यह मानव मिथ्या अभिमान कर लेता है कि मैं तुम्हारा दुःख दूर कर दूंगा। यह बिल्कुल मिथ्या अभिमान है। क्यों ? क्या तुम सर्वांश में सुखी हो जो दुःख दूर कर दोगे ?

हाँ, एक बात कर सकते हो, आंशिक सुख को बांट सकते हो, पराये दुःख से करुणित होसकते हो, दूसरे के सुख से प्रसन्न होसकते हो। यही सेवा है। तो सेवा कर सकते हैं। आप किसी का दुःख दूर नहीं कर सकते। जब आप किसी का दुःख दूर नहीं कर सकते, तब आप दूसरों से क्यों आशा करते हैं कि उसके द्वारा आपको सुख मिले ? यह आशा करना बड़ी भूल है। और इसी भूल का परिणाम यह होता है कि परस्पर में राग-द्वेष हो जाता है।

हम सोचने लगते हैं कि उन्होंने वह हमारे साथ नहीं किया, जो उन्हें करना चाहिए था। हम यह भूल जाते हैं कि भाई, क्या वे कर भी सकते थे, जो हम चाहते हैं ? कल्पना करो, मेरे साथ कई मित्र रहते हैं। मैं यह सोचलूं कि मेरे साथ मेरा जो मित्र रहता है, वह किसी और को अपना न माने, क्या मेरे अधिकार की बात है ? क्या यह कभी सम्भव है ? कभी सम्भव नहीं है। जिसे आप अपना कहते हैं, वह औरों का भी है भाई ! जब वह औरों का भी है, तो आप उसके द्वारा सभी के अधिकारों को सुरक्षित क्यों नहीं होने

देते ? क्यों नहीं सभी को प्यार करते देते ? क्यों नहीं सभी की सेवा करने देते ? आप यह क्यों सोचते हैं कि जिसको हम नहीं प्यार करते, उसको वह भी प्यार न करे ? जिसे हम नहीं मानते, उसे वह भी न माने ? यह आप सोच ही कैसे पाते हैं ? आप कहेंगे कि हम जो कुछ करते हैं, वह उसके हित के लिए करते हैं।

विचार तो कीजिये, हित किसमें है ? विद्रोह में हित है ? क्रोध में हित है ? द्वेष में हित है ? वैर-भाव में हित है ? कभी नहीं। हित प्यार में है, हित उदारता में है, हित त्याग में है। त्याग आप करते नहीं क्योंकि त्याग जब आप करेंगे, तब आपके पास अपना करके कुछ नहीं रह जायेगा। यह जो आप अपने में गुणों का अभिमान करते हैं, यह एक प्रकार का राग ही है। क्योंकि गुण हैं प्राकृतिक और आप मान लेते हैं अपने। दोष हैं भूल-जनित, और आप मान लेते हैं प्राकृतिक।

तो सत्संग के प्रकाश में ऐसा अनुभव होता है कि हमें कभी-भी किसी भी परिस्थिति में यह अधिकार ही नहीं है कि हम यह बात स्वीकार करें कि दूसरे लोग वह करें, जो हम चाहते हैं। यह अधिकार ही नहीं है। दूसरे लोग जो चाहें सो करें, पर हम उनके साथ वह करें, जो हमें करना चाहिये। हमारे कर्त्तव्य से उनमें कर्त्तव्यपरायणता आयेगी। हमारे उपदेश व आदेश से वे कर्त्तव्यनिष्ठ होंगे—सो नहीं होंगे। न हमारे आग्रह से होंगे, न हमारे दवाब से होंगे।

अगर समाज में कर्त्तव्यपरायणता फैलती है तो कर्त्तव्य-पालन से फैलती है, उपदेश-आदेश और सन्देश से नहीं फैलती। यह बात मैं बहुत दिनों के बाद समझ सका। इसलिये मेरा

यह निवेदन है कि आप जब कभी किसी के सम्बन्ध में विचारु करें, तो यह विचार न करें कि इन्होंने क्या भूल की! यह विचार करें कि हमें इनके साथ क्या और करना है!—इसी पर विचार करें। जिस समय आप इसे सामने रखकर सोचेंगे, तो आपको अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होगा। और जब आप उसका पालन करेंगे, तब आपकी कर्त्तव्यपरायणता से समाज में कर्त्तव्यपरायणता आयेगी।

किसी और प्रकार से हम कर्त्तव्यपरायणता का प्रचार कर सकते हैं—ऐसा मेरा विश्वास नहीं है और अनुभव भी नहीं है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने से ही कर्त्तव्यपरायणता फैलती है—समझाने से नहीं, उपदेश करने से नहीं, शासन करने से नहीं, भय देने से नहीं, प्रलोभन देने से नहीं। कोई भी किसी को कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बना पाता।

मुझे ऐसी घटनायें मालूम हैं, जिनमें साधक ने जो कहा, वही पूरा होगया। मैंने सोचा कि अब इनमें प्रभु-विश्वास, कर्त्तव्य-विश्वास, साधन-विश्वास आजायेगा। आप सच मानिये, नहीं आया। तो किसी प्रलोभन से हम किसी को कर्त्तव्यनिष्ठ बना लेंगे, वह बड़ी भूल है। किसी प्रकार का भय देकर किसी को कर्त्तव्यनिष्ठ बना लेंगे, यह उससे बड़ी भूल है। इसलिये भाई! प्रलोभन देकर किसी पर शासन मत करो, भय देकर किसी पर शासन मत करो अपितु अपने कर्त्तव्य द्वारा उसके अधिकार की रक्षा करो।

उसे अपने ढंग से देखने दो, सोचनें दो, समझने दो, करने दो। उसमें भी 'वह' मौजूद है, 'जो' आप में है। बोले, क्या? विवेक-रहित कोई भाई-बहन नहीं हैं। विवेक ही वास्तव में

गुरु-तत्व है। कोई व्यक्ति किसी का गुरू है—इसके समान कोई भूल ही नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसी का सुधारक है—इसके समान कोई भूल नहीं है। मानव का अपना विवेक ही उसका अपना सुधारक है, वही उसका गुरू है, वही उसका नेता है, वही उसका शासक है। जिसके जीवन पर विवेक का गुरुत्व, विवेक का नेतृत्व, विवेक का शासन नहीं रहता, उसके जीवन में कभी भी निर्दोषता नहीं आती।

इसलिये भाई, मानव सेवा संघ की यह अमर वाणी है कि मानव-मात्र सत्-पथ का अधिकारी है, चल सकता है।

आप यह न सोचें कि आपको उदारता से कोई आगे बढ़ेगा अपितु यह विचार करें कि जो आपमें उदारता उदय हुई है, उससे आपका हित होगा। वह आपके लिए कल्याणकारी होगी।

३२

ब

अगर कोई भूल कर रहा है, तो आप इस बात से क्षोभित न हों कि वह भूल क्यों कर रहा है ! अपितु इस बात से दुःखित हों कि भूल न करता तो अच्छा था ! भूल न करे, तो बड़ा अच्छा हो ! पर उसे यह न मालूम होजाय कि आप इस बात को जानते हैं कि वह भूल कर रहा है। यह आपकी मूक-सेवा होनी चाहिये। मूक-सेवा के समान कोई सेवा नहीं है।

मूक-सेवा का अर्थ क्या है ? किसी की अवनति को देखकर पीड़ित होना। किन्तु आप-हम पीड़ित कब होते हैं ? जब देखते हैं कि हमारे अधिकार का अपहरण हुआ है, हमारा स्थान सुरक्षित नहीं रहा, तब हम पीड़ित होते हैं। हम इस बात को लेकर पीड़ित नहीं होते कि कोई बेचारा भूल क्यों कर रहा है ! भूल न करता तो अच्छा होता ! यही तो क्षमा-शीलता है।

क्या आप समझते हैं कि क्षमा मांगने पर क्षमा करना चाहिये ? नहीं, नहीं, अपने प्रति होने वाली बुराई के काल में ही क्षमा करना चाहिये। जब कोई हमारे साथ बुराई कर रहा है, तभी हमें क्षमा करना चाहिए। क्यों ? उसने स्वयं अपने को बुरा बनाया है इसलिये बुराई कर रहा है। और

अपने को जो बुरा बनाया है, वह प्रमाद से बनाया है। स्वभाव से वह बुरा नहीं है, स्वरूप से बुरा नहीं है। प्रमाद मिट सकता है, सदैव नहीं रहता। इसलिये वह भला होजायेगा, बुराई नहीं करेगा। तो हमें दूसरों के सम्बन्ध में यही सोचना है कि कोई बुरा न रहे, कोई बुरा न रहे! और उसके लिए सबसे सुन्दर उपाय है कि हम किसी को बुरा न समझें।

देखिये, उपासना का रहस्य क्या है? जिसको जैसा देखना चाहते हो, उसमें वैसी ही स्थापना करो। यह वैज्ञानिक सत्य है। जिसको जैसा देखना चाहते हो, उसको वैसा ही समझो।

एक भाई ने मुझसे कहा कि आप मुझे परम आस्तिक क्यों कह रहे हैं? मैं तो परम आस्तिक नहीं हूँ। मैंने कहा—मैं इसीलिये कहता हूँ कि आप आस्तिक होजायेंगे। यह कोई कल्पना नहीं है, यह वास्तविकता है। जिसको आप जैसा समझेंगे, जैसा सोचेंगे, जैसा मानेंगे, वैसा वह होजायेगा। इससे क्या सिद्ध हुआ? हम किसी को बुरा न समझें। तब किसी के बुरे होने में हमारा हाथ नहीं रहेगा। अगर आप यह चाहते हैं कि कोई बुरा न रहे, तो उसका सुगम उपाय है कि आप किसी को बुरा न समझें।

इसका अर्थ यह नहीं है कि आप भला समझें। यह मैं नहीं कहता। यह तो आपकी विशेष उदारता है। और यह आपके लिए आपका एक बड़ा स्वधर्म है। लेकिन कम-से-कम बुरा तो न समझें। यह कम-से-कम बात है। बुरा न समझने मात्र से आप तो भले होजायेंगे। और आपके भले होने से जब आपमें कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होगी, तब उस कर्त्तव्य-

परायणता से वह भी भला होजायेगा। आप जानते हैं, कोई बुराई क्यों करने लगता है? उसके साथ बुराई होती है इसलिये बुराई करने लगता है। अगर उसके साथ बुराई न हो, तो वह कभी बुराई कर ही नहीं सकता। पर इतनी गम्भीरता से हम इस समस्या पर विचार नहीं करते। और ऐसा मानने लगते हैं कि उसने जान-बूझ कर बुराई की।

और अपने सम्बन्ध में?— क्या बतायें! हमारे संस्कार ही ऐसे थे, हमारी परिस्थिति ही ऐसी थी। तो अपने से जब बुराई होती है, तब तो हम बेबसी अनुभव करते हैं। और जब दूसरे से बुराई होती है, तब उसकी असावधानी अनुभव करते हैं, उसकी भूल अनुभव करते हैं। इसीलिए हमें उस पर क्रोध आता है। और अपनी क्योंकि बेबसी अनुभव कर लेते हैं इसलिए अपने को क्षमा कर बैठते हैं। बेबसी अनुभव करना चाहिए दूसरे की, भूल अनुभव करना चाहिये अपनी। तब अपने प्रति न्याय होगा, दूसरे के प्रति क्षमा होगी।

आप जानते हैं, दूसरे के प्रति क्षमा करने से ही एकता आती है, वैर-भाव मिटता है, समता का उदय होता है, मानव द्वेष-रहित होता है, क्रोध रहित होता है, क्षोभ-रहित होता है। और उसके होने से उसमें 'स्मृति' जाग्रत होती है। यह जो 'स्मृति' है वह ज्ञान के अर्थ में भी है, प्रीति के अर्थ में भी है, प्राप्ति के अर्थ में भी है। जैसे, कोई वस्तु आप रखकर भूल गये और आपको स्मृति आगई, तो प्राप्त होगई कि नहीं? \

एक बार मैं श्रीनाथद्वारा में कुछ मित्रों के साथ स्नान कर रहा था। एक मित्र इस कार्य में सहयोग दे रहे थे। जब मैं

नदी से निकला, तो शरीर पोंछने के लिये वस्त्र की आवश्यकता हुई। मेवाड़ की भाषा में उसे हस्ताया कहते हैं वे लोग। तो जो भाई मदद कर रहे थे नहाने में, उनके कन्धे पर वह हस्ताया रखा हुआ था और इधर-उधर ढूंढ़ते फिर रहे थे— कहाँ है ? कहाँ है ? कहाँ है ? तब तक दूसरे भाई ने कहा कि आपके कन्धे पर क्या है ?—अरे, कि मैं भूल गया था। तो स्मृति और प्राप्ति युगपत् होगई न ? जिस समय स्मृति आगई, उसी समय प्राप्ति भी होगई। तो 'स्मृति' 'प्राप्ति' के अर्थ में भी है। और 'स्मृति' 'प्रीति' के अर्थ में भी है। और 'स्मृति' 'ज्ञान' के अर्थ में भी है।

तो कर्त्तव्य की स्मृति, अपने स्वरूप की स्मृति, अपने प्रिय की स्मृति कब आयेगी ? जब हम क्षोभ और क्रोध से रहित होंगे। क्षोभ के रहते हुये, क्रोध के रहते हुए न कर्त्तव्य की स्मृति आयेगी, न अपने स्वरूप की स्मृति होगी, न अपने प्रिय की स्मृति होगी। अब आप सोचिये कि क्रोध-रहित होना कितना आवश्यक है ! आप कहेंगे कि हमको तो क्रोध नहीं आता, हम किसी पर बिगड़ते नहीं, हम किसी को कुछ कहते नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमको क्रोध नहीं आता।

क्रोध का स्वरूप क्या है ? किसी दूसरे की कोई भी बात, जिस वक्त आपको यह भासित होती है कि ठीक नहीं है और उसके पश्चात् हृदय करुणा से नहीं भरता, उदारता से नहीं भरता, तो समझना चाहिये कि क्रोध आगया। नही तो करुणा उदय होनी चाहिये न ! उसके प्रति सद्भावना रहनी चाहिए न ! उसके प्रति प्यार उदय होना चाहिए न ! कि हे प्यारे, तुम ऐसा करते हो, बड़ा दुःख होता है ! कहीं यह आवाज आती है क्या ? आवाज आती है—तुम बड़े बेसमझ हो, तुम

बड़े बदतमीज़ हो, तुम्हारे समान कोई धूर्त नहीं है। तुम ऐसा करते हो ? यह आवाज निकलती है। यह आवाज क्रोध का संकेत है।

कहीं यह आवाज निकलती—"मेरे प्यारे, तुम ऐसा करते हो तो मुझे बड़ा दु:ख होता है ! और देखो, कोई बात नहीं है। क्या तुम मेरी प्रसन्नता के लिए ऐसा करना छोड़ सकते हो ? मुझे बड़ा हर्ष होगा।" यह भी बढ़िया बात नहीं है। इससे और बढ़िया बात तो यह है कि भीतर इतनी सद्‌भावना जागृत हो कि उसकी भूल हमें अपनी भूल मालूम पड़े कि क्या हमसे कोई भूल हुई है इसलिए इन्होंने भूल करना सीख लिया ! जिसको हम प्यार करते हैं, जिसको अपना मानते हैं, उससे वह भूल क्यों हुई ! मालूम होता है, हमारे द्वारा प्यार नहीं मिला। मालूम होता है कि हमसे कोई भूल होगई है। यदि हमसे भूल न हुई होती, तो क्या हमारे साथी कभी भूल करते ?

इस प्रकार का विचार जब उदय हो। इस प्रकार की विचार-लहरियाँ जब उत्पन्न हों (थौट वेव उत्पन्न हों) तब सचमुच आप उसके हित-चिन्तक होसकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं। और जब तक ऐसी बात नहीं आती तब तक तो यही समझना चाहिये कि किसी नें राष्ट्र बनकर शासन किया, तो किसी ने सम्बन्धी बन कर शासन किया, तो किसी नें भय देकर शासन किया, तो किसी नें प्रलोभन देकर शासन किया। शासक जो होता है, वह सुधारक नहीं होता। शासक कभी सुधारक नहीं हुआ। आज तक नहीं हुआ, न होसकता है, और न कभी होगा। इसलिये यह भ्रमात्मक धारणा है कि

हम बल के प्रयोग से किसी का सुधार कर लेंगे—बड़ी ही भूल की बात है।

हाँ, सेवा करने में असमर्थ पाते हों तो क्षमा मांगें कि हम इस योग्य नहीं हैं कि हम आपकी सेवा कर सकें। त्याग कर सकते हैं, असहयोग कर सकते हैं। असहयोग में द्वेष की गंध भी नहीं होती। असहयोग में तो एक प्रकार की अपनी असमर्थता होती है और एक नवीन जीवन की खोज होती है। असहयोग का अर्थ क्या है ? कि "अच्छा भाई! हम आपकी सेवा नहीं कर सके, इसलिए ममता का त्याग करते हैं, सम्बन्ध विच्छेद करते हैं। और सम्बन्ध विच्छेद करके उससे अभिन्न होंगे जो हमारा अपना है। आप हमारे अपने नहीं हैं। आप तो हमारे प्यारे के हैं, 'उनके' नाते हमें आपकी सेवा करना है। हमने भूल यह की थी कि अपने प्यारे को भूल गये और आपको अपना मान लिया।"

"आपको अपना मानने से हमारे में विकार की उत्पत्ति होगई। क्योंकि जहाँ ममता होती है, वहाँ विकार की उत्पत्ति होती ही है। और विकार के उत्पन्न होने से हम अपने कर्त्तव्य को भूल गये और आपके कर्त्तव्य की बात सोचने लगे। यह हमसे भूल हुई। इसलिये हम अब आपसे असहयोग करते हैं। और 'जो' हमारा अपना है, 'जो' आपका भी अपना है, 'उससे' सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। यदि हमारे जीवन में सामर्थ्य आयेगी तो हम आपकी सेवा करेंगे। पर, अपना मान कर नहीं करेंगे। हमने भूल की थी, जो आपको अपना माना। आप हमारे अपने नहीं हैं। आप तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे हैं।"

विचार कीजिये, अपने नहीं हैं, इसका मतलब गैरियत नहीं। "आप तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे हैं। हमारे 'प्यारे' कौन हैं ? 'जो' हमें जानते हैं, 'जिन्हें' हम नहीं जानते। और उनके आप प्यारे हैं। तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे होने से आप हमारे सेव्य हैं, हम आपके सेवक हैं। हमनें भूल की थी कि ममता के आधार पर आप पर अपना अधिकार माना था और आपकी सेवा नहीं की थी। अब हम या तो आपकी सेवा करेंगे, और जब तक आपकी सेवा के योग्य नहीं होंगे, तब तक हम असहयोग रखेंगे। और वह सदा के लिये आपकी ममता से रहित होकर, निर्विकार होकर अपने 'प्यारे' के नाते आपकी सेवा करेंगे।" तब कहीं जीवन में निर्दोषता सुरक्षित रहती है।

हम लोगों ने इस बात पर विचार करना बन्द कर दिया है कि हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा हो ही कैसे सकता है ! और जब आप किसी को अपने दुःख का कारण नहीं मानते, तब आपको क्रोध आया क्यों ? विचार तो कीजिये। क्रोध क्यों आया ? द्वेष क्यों उत्पन्न हुआ ? हमने किसी को बुरा क्यों समझा ? तभी न ! हम बुरा समझते है, जब हम यह मानते हैं कि आपने हमें दुःख दिया ? मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर कोई हमें दुःख दे सकता है, तो क्या कभी दुःख मिट सकता है ?

बहुत गम्भीरता से विचार करें। यह अध्यात्मवाद है। अगर हमें कोई दुःख दे सकता है, तो दुःख मिट ही नहीं सकता। एक बात। दूसरी बात सोचिये, क्या दुःख उस प्रभु के विधान से मिला है ? बहुत गम्भीरता से सोचिये। उसने

दुःख दिया है ? नहीं, उसमें दुःख है नहीं। और जगत् दुःख दे सकता नहीं। भला, सतत् परिवर्तनशील जगत्, पर-प्रकाश्य जगत् हमको दुःख दे पायेगा ? और जिसमें दुःख है ही नहीं, क्या उससे दुःख मिलेगा ? तो मानना पड़ता है कि हमारे दुःख का कारण कोई और नहीं है।

या तो दुःख प्राकृतिक विधान है और हित के लिये आया है। क्योंकि दुःख से सुख के प्रलोभन का नाश होता है। विधान जो होता है वह मंगलकारी होता है। यदि आप यह सोचें कि ऐसे दुःख भी तो आते हैं, जिनका कर्त्ता कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता और स्वयं भी नहीं होते और दुःख आजाता है। तो वह दुःख वास्तव में आपको भासता है। कब ? जब आप किसी वस्तु से तद्रूप होकर उसका सुख भोगते हैं। मुझे अन्धे होने का दुःख क्यों हुआ ? आँखों का सुख भोगने से। अगर मैं आँखों का सुख न भोगता, तो अन्धे होने का दुःख होसकता था क्या ?

तो यह जो दुःख आपको भासित होता है, वह अपनी भूल से भासित होता है। और यह जो परिवर्तन आता है कि वस्तु का वियोग होगया, व्यक्ति का वियोग होगया, परिस्थिति बदल गई—यह विधान है।

तो परिवर्तन का अर्थ यह थोड़े ही है कि आपको दुःख हो। आपको दुःख तो आपकी ममता से होता है ! परिवर्तन आपको एक अलौकिक जीवन के लिए प्रेरणा देता है। आप उस दिव्य जीवन से विमुख होकर इसी जड़ता के साम्राज्य में रहना चाहते हैं, यह आपकी भूल है। इस भूल से आपको परिवर्तन दुःखद मालूम होता है।

आप सोचिये तो सही। अगर परिवर्तन को विधान से हटा दिया जाय और जो बीज बोया है वह वृक्ष न बनें, तो आपको क्या मिलेगा ? जी ? अगर पिता का वीर्य और माता का रज शरीर के रूप में न बदले और शरीर विकसित न हो, तो क्या आपको कुछ लाभ मालूम होगा ? आप कहेंगे—कोई लाभ नहीं होगा, बड़ी हानि होगी।

तो परिवर्तन जीवन में विकास का मूल है कि ह्रास का मूल है ? आप विचार तो कीजिये। अगर शरीर नहीं रहता है, अगर वस्तु नहीं रहती है, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर और वस्तु से परे जो जीवन है, उसमें आपका प्रवेश होता है। परन्तु आप उस परिवर्तन को अपने विकास का साधन न मानकर कहने लगते हैं कि हम तो बड़े अभागे हैं। क्यों ? कि अमुक वस्तु नहीं रही, यों, अमुक व्यक्ति नहीं रहा, यों।

भाई, जरा सोचो तो सही। जो 'नहीं' था, वही नहीं रहा, या जो 'है' वह भी नहीं रहा ? जो 'है' वह तो सदैव है। परन्तु हमने 'है' में आत्मीयता स्वीकार नहीं की, 'नहीं' में ममता करली। परिवर्तन ने ममता के त्याग की सामर्थ्य दी। हम इस रहस्य को भूल कर अपने को दुःखी बनाते हैं, दुःखी होते हैं।

वास्तव में मानव-जीवन दुःख भोगने के लिए नहीं है। सुख-दुःख का भोग तो पशु-पक्षी भी कर सकते है। मानव-जीवन सुख की दासता से रहित होने के लिए, दुःख के भय से रहित होने के लिये, जगत् के लिये उपयोगी होने के लिये, अपने लिए उपयोगी होने के लिए, प्रभु के लिए उपयोगी होने के लिए ही मिला है। ऐसा अनुपम जीवन हम सबको प्राप्त

है। फिर भी आप-हम अपने को अभागा मानें, दुःखी मानें, अपने दुःख का कारण दूसरों को मानें, दूसरों के दुःख के कारण बन जायँ—यह अपनी भूल ही है।

इस भूल का नाश एक-मात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग का अर्थ है 'है' का संग, अविनाशी का संग—वस्तु का संग नहीं, व्यक्ति का संग नहीं, परिस्थिति का संग नहीं, अवस्था का संग नहीं, श्रम का संग नहीं—श्रम-रहित होकर 'है' का संग।

यही सत्संग अगर आप अपना लेते हैं अर्थात् प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहते हैं। जगने के बाद, सोने से पहले शान्त होते हैं। जैसे-जैसे आप शान्ति का सम्पादन करते जायेंगे, वैसे-वैसे आपका सर्वतोमुखी विकास होगा। शान्ति में ही कर्त्तव्य की, निज-स्वरूप की, अपने प्रिय की स्मृति उदय होती है। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन प्रत्येक भाई के लिए, प्रत्येक बहन के लिये अनिवार्य है।

उसका बाह्य साधन—अनावश्यक कार्य का त्याग, आवश्यक कार्य को फलासक्ति-रहित पूरा करना। अर्थात् जिस कार्य में आपके विवेक और सामर्थ्य का विरोध हो, उसके लिये क्षमा मांगना। और जो कार्य सामर्थ्य और विवेक के अनुरूप हो, उसको निष्काम-भाव से अपने 'प्रिय' के नाते पूरा कर देना। बस, यही सफलता की कुंजी है।

❀ विवेचन ❀

(द्वारा—भक्तिमती देवकी जी)

❖

साधक के जीवन में प्राकृतिक नियम के अनुसार न तो 'न जानने' का दोष है और न जाने हुए के अनुरूप जीवन बनाने के लिए सामर्थ्य का अभाव ही है। अर्थात् साधन की मूल सामग्री तो साधक को प्राप्त ही है। उसके सदुपयोग न करने में साधक की ही असावधानी है, जो उसका अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाये हुए दोष के मिटाने का दायित्व अपने पर ही है, किसी और पर नहीं।

सभी दोष अविवेक के कार्य हैं। अविवेक केवल विवेक का अनादर है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इस कारण विवेक के आदर में ही अविवेक का विनाश है। जिस प्रकार प्रकाश होने पर अन्धकार का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार विवेक का आदर करने पर सीमित अहंभाव-रूपी अन्धकार जो अविवेक है, स्वतः मिट जाता है। उसके मिटते ही समस्त दोष नष्ट होजाते हैं। क्योंकि जिस भूमि में दोष निवास करते हैं, वह भूमि ही शेष नहीं रहती।

यह नियम है कि 'करने' का अन्त होता है और उसके परिणाम का भी कालान्तर में नाश होता है। की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेने से भूल मिट जाती है। और कालान्तर में भूल का परिणाम भी मिट जाता है। मौलिक निर्दोषता सुरक्षित होजाती है।

हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम हमीं तक सीमित नहीं रहता, अपितु समस्त विश्व में फैलता है। क्योंकि कर्म बिना संगठन के नहीं होता। अतः संगठन से उत्पन्न होने वाले कर्म का परिणाम व्यापक होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से हम जो कुछ करें, वह इस उद्देश्य को सामने रख कर करना चाहिये कि 'हमारे द्वारा दूसरों का अहित तो नहीं होरहा है!' यदि हमारे द्वारा होने वाले कर्मों से दूसरों का अहित होरहा है, तो हमारा भी अहित निश्चित है। अतः इस कर्म-विज्ञान की दृष्टि से हमें वह नहीं करना चाहिए, जिसमें किसी अन्य का अहित हो। अपितु वह अवश्य करना चाहिये, जिसमें सभी का हित हो।

कर्त्तव्यपालन की कसौटी है कि फल की आशा स्वभाव से ही न रहे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कर्त्तव्यपालन का होना ही महान् फल है। क्योंकि कर्त्तव्यपालन के पश्चात् 'करने' का प्रश्न ही शेष नहीं रहता। जब साधक जो कर सकता है, वह कर डालता है, तब क्या 'साध्य' को जो करना है, वह नहीं करेगा? क्या 'साध्य' अपने कर्त्तव्य से च्युत होसकता है? कदापि नहीं। अपितु साध्य तो इतने उदार हैं कि साधक को भी 'करने' की सामर्थ्य प्रदान करते हैं। जिस प्रकार माँ अपने शिशु के लिए स्वतः सब कुछ करती है, उसी प्रकार 'साध्य' साधक के लिये सब कुछ करते हैं।

समाज में कर्त्तव्यपरायणता फैलती है तो कर्त्तव्यपालन से फैलती है; उपदेश, आदेश, और सन्देश से नहीं फैलती। शासन का भय और प्रलोभन से भी कोई किसी को कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बना सकता। अपना कर्त्तव्य है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा की जाय।

कर्त्तव्यपरायणता वह विज्ञान है, जिसमें मानव जगत् के लिये उपयोगी होता है और स्वयं योग-विज्ञान का अधिकारी होजाता है। कारण कि कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान 'राग' की निवृत्ति में हेतु है। राग-रहित हुये बिना कोई भी मानव अपने विकास में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

कर्त्तव्यपालन का अर्थ कर्त्तव्य के अभिमान में, क्रिया-जनित सुख-लोलुपता में एवं फलासक्ति में आबद्ध होना नहीं है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्यपरायणता आती जाती है, त्यों-त्यों 'करने' का राग, पाने का लालच, जीने की आशा और मरने का भय स्वतः मिटता जाता है। सर्वांश में कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर मानव स्वतः अपने ही में अपने 'सर्वस्व' को पाकर कृत-कृत्य होजाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म आस्तिक की 'पूजा' अध्यात्मवादी का 'साधन' एवं भौतिकवादी की 'सेवा' है। 'सेवा' विश्व प्रेम में, 'साधन' असंगतापूर्वक विश्राम में और 'पूजा' प्रभु प्रेम में परिणत होजाती है।

कर्त्तव्य पथ से भी मानव विश्राम प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य भी स्वतन्त्र पथ है। कर्त्तव्य की पूर्णता होने पर विश्राम तथा विश्व-प्रेम एवं अनेकता में एकता का साक्षात्कार बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वतः होता है। प्रेम का आरम्भ किसी भी प्रतीक में क्यों न हो, किन्तु 'प्रेम' स्वभाव से ही विभु होजाता है। अतः विश्व-प्रेम भी विश्व से अतीत आत्मरति एवं प्रभु-प्रेम के रूप में परिणत होता है।

ॐ

प्रार्थना

(२)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
मानव-मात्र को
विवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवम्
हे करुणासागर !
अपनी अपार करुणा से
शीघ्र ही
राग-द्वेष का नाश करें,
सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

मानव सेवा संघ के प्रकाशन

क्रमांक		पृष्ठ सं०	मूल्य
१.	सन्त समागम भाग-१ (सातवाँ संस्करण)	२५६	३-००
२.	सन्त समागम भाग-२ (चतुर्थ संस्करण)	३४४	४-००
३.	मानव की मांग (चतुर्थ संस्करण)	२४०	४-००
४.	जीवन दर्शन (तृतीय संस्करण)	३२६	३-००
५.	साधन तत्व (तृतीय संस्करण)	१०४	२-५०
६.	सत्संग और साधन (तृतीय संस्करण)	९६	१-७५
७.	जीवन पथ (चतुर्थ संस्करण)	१३८	१-७५
८.	मानवता के मूल सिद्धान्त (चतुर्थ संस्करण)	९६	२-००
९.	दर्शन और नीति (द्वितीय संस्करण)	१५०	२-००
१०.	दुःख का प्रभाव (तृतीय संस्करण)	११६	२-००
११.	मूक सत्संग और नित्य योग (द्वितीय संस्करण)	२१६	२-७५
१२.	मानव दर्शन (तृतीय संस्करण)	२१२	३-००
१३.	मंगलमय विधान (तृतीय संस्करण)	७२	१-५०
१४.	सन्त पत्रावली भाग-१	१८०	२-५०
१५.	सन्त पत्रावली भाग-२	२१२	२-५०
१६.	रजत जयन्ती स्मारिका	२८२	६-००
१७.	पाथेय	३५८	४-५०
१८.	प्रबोधनी	४८	१-००
१९.	मानव सेवा संघ परिचय (सातवां संस्करण)	४०	०-५०
२०.	साधन निधि (द्वितीय संस्करण)	१५४	१-२५
२१.	सफलता की कुंजी (सन्तवाणी भाग-१)	१५२	२-५०

क्रमांक		पृष्ठ सं०	मूल्य
२२.	सन्त वाणी भाग-२	१६८	२-७०
२३.	सन्त वाणी भाग-३	१७६	२-७०
२४.	सन्त वाणी भाग-४	२५६	४-००
२५.	सन्त वाणी भाग-५ (प्रथम संस्करण)	२७६	४-००
26.	A Saint's call to mankind (Third Edition)	192	5-00
27.	Sadhana spotlight by a Saint (Second Edition)	70	1-50

(सूचना :—मानव सेवा संघ के प्रकाशन-(१) चित्त-शुद्धि, (२) आचार-संहिता, (३) साधन सूत्र स्टौक में नहीं हैं। पुनः मुद्रण का प्रयास है।)

मानव सेवा संघ का मुख पत्र

"जीवन दर्शन"

मानव मात्र में निज-कल्याण तथा सुन्दर समाज-निर्माण की चेतना फूंकने वाला, संघ के स्वरूप तथा उसकी विचार-धारा का प्रतीक, साधकों के लिए सही पथ-निर्देशक, सभी का सच्चा सखा, सर्वथा पठनीय।

वार्षिक शुल्क १०/- मात्र, आजीवन हेतु १०१/- मात्र।

पता—

मानव सेवा संघ वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र० २८११२१

मूल्य ४-००

१५०० सितम्बर ८५